श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तकों की शुभ नामावली निम्न प्रकार है:—

१	श्रीमान् ला०	महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स सदर मेरठ	२००१)
२	"	" मित्रसैन जी नाहरसिंह जी जैन मुज्फ्फरनगर	१००१)
३	"	" प्रेमचन्द जी ओमप्रकाश जी निवार वर्क्स मेरठ	१००१)
४	"	" सलेखचन्द जी लाल चन्द जी मुजफ्फरनगर	११०१)
५	"	" कृष्णचन्द जी जैन रईस देहरादून	११११)
६	"	" दीपचन्द जी जैन रईस देहरादून	१००१)
७	"	" वारूमल जी प्रेमचन्द जी जैन मंसूरी	११०१)
८	"	" वाबूराम जी मुरारीलाल जी जैन ज्वालापुर	१००१)
९	"	" केवलराम जी उग्रसैन जी जैन जगाधरी	१००१)
१०	"	" गैंदामल जी दगड्सूसाह जी जैन सनवाद	१००१)
११	"	" मुकन्दलाल जी गुलशनराय जैन नईमंडीमु०	१००१)
१२	"	" कैलाशचन्द जी जैन देहरादून	१००१)
१३*	"	" शीतल प्रसाद जी जैन मेरठ सदर	१००१)
१४*	"	" सुखवीरसिंह जी हेमचन्द जी सर्राफ वड़ौत	१००१)
१५*	"	" वाबूराम जी अकलंक प्रसाद जी जैन रईस तिस्सा	१००१)
१६*	"	" जयकुमार वीरसैन जी सर्राफ मेरठ	१०००)
१७*	"	" फूलचन्द वैजनाथ जी जैन मुज्फ्फरनगर	१०००)
१८*	"	" सेठमोहनलालजी ताराचन्द जी वड़जात्या जयपुर	१००१)
१९*	"	" सेठ भवरीलाल जी जैन कोडरमा	१०००)
२०*	"	" वाबूदयाराम जी जैन S. D. O. मेरठ सदर	१०००)
२१*	"	" मुन्नालाल यादवराय जी जैन मेरठ सदर	१०००)
२२×	"	" जिनेश्वरदास जी श्रीपाल जी जैन शिमला	१००१)
२३×	"	" वनवारीलाल जी निरंजनलाल जी शिमला	१००१)

नोट—जिनके कुछ रुपये आगये हैं उनके पहले* यह निशान अंकित है।

× इनके रुपये इन्हीं के पास हैं। और सबके रु० आ गये हैं।

दो शब्द

प्रिय पाठकवृन्द ! श्रीमद्भगवतकुन्दकुन्दाचार्यरचित सार आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तथा साथ ही साथ आत्मचारित्रक एक अद्वितीय ग्रन्थराज है, जिसकी भावभासना से जगत का समस्त दारिद्रय दूर हो जाता है। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। इस पर पूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरीश्वर एवं पूज्य श्रीमज्जयसेनाचार्य की संस्कृत में टीकायें हैं। उक्त ग्रन्थराजपर महाराजश्री ने सर्वप्रथम जयपुर वर्षायोग में प्रवचन किया था। उन प्रवचनों को जयपुर जैन समाज ने नोट करने प्रबन्ध रखा और करीब ६० प्रवचन नोट कराये गये थे परन्तु कुछ असावधानीवश १०-५ गाथावों के नोट न मिल सके और ५-१० गाथावों के नोट पूर्ण नहीं हो सके। जिनका विवरण नोट में यथावसर वहीं दे दिया गया है। महाराज श्री के ये प्रवचन जिन्होंने साक्षात् सुने हैं वे ही इस आनन्द को जानते हैं। जयपुर के अनेक पढ़े लिखे वकील, आफीसर, पंडित महानुभावों ने इसका लाभ लिया। यद्यपि साक्षात् प्रवचन सुनने और नोट किये गये प्रवचनों के वाचन में काफी अन्तर हो जाता है तथापि जिन्होंने महाराजश्री के प्रवचन सुने हैं। उन्हें इन प्रवचनों में उस शैली को परखने से विशेष आनन्द आवेगा ही, साथ में जो अन्य बन्धुजन हैं उन्हें भी इसके मानने से तत्त्वज्ञान और आनन्द अपूर्व प्राप्त होगा। महाराजश्री का वर्षा योग सन् १९५२ में मध्य भारत की राजधानी इन्दौर में हुआ था, वहां समयसार पर उपदेश हुआ था जिसकी स्मृति कर अब भी इन्दौर की जनता अनुभूत आनन्द का स्मरण करती है। जयपुर समाज ने आपसे प्रार्थना की जिसे महाराज ने स्वीकार किया। जयपुर में पधारने के दिन से ही आपका प्रवचन हितकारी होता रहा जिससे सभी पार्टी वालों ने अविरोध पूर्वक आपके प्रवचनों से अपूर्व लाभ लिया। जयपुर में ऐसा यह प्रथम अवसर था जहाँ सब विचार वालों का एक हित दृष्टि से प्रतिदिन प्रवचन सभा में सम्मेलन होता था।

सन् १९५३ वर्षा योग समिति जयपुर ने आपके प्रवचनों का संग्रह करके एक बहुत महान् कार्य किया है। श्रीमान दीवान मालीलाल जी अध्यक्ष वर्षा योग समिति व श्रीमान् शाह सूरजमल जी B.A. श्रीमान् पाटनी बाबूलाल जी व श्रीमान सेठी प्यारेलाल जी आदि के प्रबन्ध प्रोग्राम से जयपुर समाज ने अपूर्व धर्म लाभ लिया।

इन प्रवचनों में प्रत्येक गाथाओं में विशेष अर्थ खोला गया है। इसमें मंगलाचरण की गाथाओं का रहस्यमय अर्थ, शुभोपयोग व शुद्धोपयोग का स्वरूप, शुद्धोपयोग में परिणत आत्माओं का स्वरूप विशेष मननीय है।

प्रथम भाग का प्रवचन पीठिका की १४ गाथाओं में पूर्ण किया गया था व द्वितीय भाग में ज्ञानप्रपंच तक प्रवचन पूर्ण हुआ इसमें ज्ञानाधिकार पूर्ण हुआ। इसमें प्रवचन सरल और आध्यात्मिकता को लिये हुए हैं। इन प्रवचनों का विशेष मनन के साथ अध्ययन किया जावे तो आशा ही नहीं किन्तु पूर्ण विश्वास है कि पाठक महानुभाव सच्चे मुमुक्षु बनकर अवश्य आत्मकल्याण कर सकेंगे।

अन्त में जयपुर जैन समाज और वर्षा योग समिति के प्रबन्धकों का हम बड़ा आभार मानते हैं कि उन्होंने इन तात्त्विक प्रवचनों का संग्रह करके हम सबके हाथ में इन प्रवचनों के पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त कराया है।

विज्ञेष्वलम्—

उपाध्यक्ष व प्रधान ट्रस्टी
श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
सितम्बर १९५५

महावीर प्रसाद जैन बैंकर्स
मेरठ सदर (उ० प्र०)

॥ श्री नमः सिद्धेभ्यः ॥

प्रवचनसार प्रवचन तृतीय भाग

अब तक केवलज्ञानके विषयमें वर्णन हुआ, अब आनन्दका वर्णन शुरू होता है। आनन्दाधिकार यहांसे प्रारंभ होता है। ज्ञानप्रपञ्च के अनंतर आनन्दप्रपञ्च कहनेका प्रयोजन यह है कि आत्मामें यद्यपि ज्ञान और आनंद दोनों सहज गुण हैं तथापि संवेदन ज्ञान द्वारा ही है अतः पहिले ज्ञानप्रपंच किया। अब ज्ञानसे अभिन्न आनन्दके स्वरूप बनाते हैं और साथ ही साथ यह भी कहते हैं कि उस सुखके अनेक परिणमनोंमें कौनसा सुख हेय है कौनसा सुख उपादेय है—

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

इस गाथा में सबसे पहले यह बताते कि सुख का स्वरूप ज्ञान से अभिन्न है। सुख का जो संवेदन है, सुखरूप जो परिणति है, वह ज्ञान से अभिन्न है। जहां सच्चा सुख नहीं होता, जहां शुद्ध सुख नहीं होता, वहाँ तो यह छाँट की जा सकती है कि यह सुख और यह ज्ञान, परन्तु जहाँ सचा सुख होता है वहाँ यह छाँट करना कठिन है। वहाँ तो सुख और ज्ञान अभिन्न हैं। इस प्रकार से ज्ञान से अभिन्न जो सुख है उसका स्वरूप बताते हुए यह बताते कि कौनसा ज्ञान व सुख हेय है और कौन सा ज्ञान व सुख उपादेय है।

ज्ञान और सुख मूर्तिक और इन्द्रियज भी है और ज्ञान और सुख अमूर्तिक और अतीन्द्रियज भी है। सबसे पहले सुख का स्वरूप पहिचानने के लिए सुखके दो प्रकार बनालो एक मूर्तिक और इन्द्रियज व दूसरा अमूर्तिक और अतीन्द्रियज। मूर्तिक सुख के जानने को पहले स्मरण कीजिये कि अवधि ज्ञान का विषय क्या क्या है? अवधि ज्ञान कर्म परमाणुओं को जानने वाला है, राग द्वेष आदि भाव जो कर्म परमाणुओं के कारण हैं उनको भी जानने वाला है, राग द्वेष आदि

भावों से होने वाले सुख दुख परिणामों को भी जानने वाला है, उपशम सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को भी जानने वाला है, तो अवधिज्ञान मूर्तिक को ही जानता। उसके विषय क्या क्या बन गये? राग द्वेष भी, सुख दुख भी, क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव भी, ये सब उनके विषय हैं। तो जिनको यह संसारी जीव सुख का अनुभव करता है और जो कर्म के उदय से हैं, इसलिये ये मूर्तिक ही हैं। इन्द्रियों से और कर्म के उदय से जो सुख उत्पन्न होता है वह तो मूर्तिक और इन्द्रियज ही है। दूसरे प्रकार से ज्ञान सुख अमूर्तिक और अतीन्द्रियज होता है। वह अतीन्द्रिय और अमूर्तिक ज्ञान सुख ही यहां मुख्य माना गया है और उसे ही उपादेय समझना चाहिये। मूर्तिक ज्ञान और मूर्तिक सुख हेय हैं। जितने भी मूर्त भाव हैं सब हेय हैं। भगवान की भक्ति में जो अनुराग है वह भी कर्म के उदय से है, तो वह भी हेय है। वृत्ति में संयम से व्रत से चलने की उसे पालने की जो बुद्धि है और उनमें जो अनुराग रहता है तो वह भी कर्म के उदय से होता है, इसलिए वह भी हेय है। जो कर्म के उदय से उत्पन्न हो वह अनुराग और बुद्धि हेय होती है, उपादेय नहीं। वस्तुतः तो निश्चय से जो बुद्धि लगती है वह भी उपादेय नहीं। जो शुद्ध अवस्था में पहुँच गया उसके तो उपादेय की बुद्धि ही नहीं है। वे तो निश्चय को भी उपादेय नहीं बता सकते। निश्चय तत्त्व उपादेय है यह भाव भी कर्म के उदय से होता, तो निश्चय तत्त्व उपादेय है यह भाव भी मूर्तिक ही होता। तो यह भी हेय परिणाम है। व्यवहार की तो चीज जाने दो, निश्चय तत्त्व उपादेय है ऐसा परिणाम भी हेय है।

कहते कि ज्ञान और सुख मूर्तिक भी होता इन्द्रियज भी होता, अमूर्तिक भी होता, अतीन्द्रियज भी होता, उन चारों के बीच में जो अमूर्तिक और अतीन्द्रियज है वह उपादेय है। जो मूर्तिक और इन्द्रियज सुख व ज्ञान हैं वे क्षायोपशमिक इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होते, इसलिए वह ज्ञान और सुख पराधीन होते। आनन्द के शुद्ध स्वरूप को बताने के

लिए उसके अशुद्ध स्वरूप को बताया जायगा और फिर शुद्ध स्वरूप समझ में आयगा। शुद्ध आनन्द का मूल्य अशुद्ध आनन्द का वर्णन करके जाना जायगा। यह अशुद्ध आनन्द इन्द्रियों से पैदा होता है, इसलिये पराधीन है। जितने भी सुख हैं वे सब पराधीन हैं। स्वाधीन सुख तो सहज शुद्ध आत्मा का अवलोकन, उसी में अहं अहं, ऐसा प्रत्यय करके अभेद ज्ञान की स्थिति मे रहता ही है। जितना भी इन्द्रियों से जायमान सुख है वह पराधीन सुख है। दुनियां के लोग बड़े बड़े महल, बड़ी बड़ी सम्पत्तियां जोड़ने के लिए परिश्रम कर जाते, परन्तु परिश्रम पूरे होने पर भी उसे भोग सकते या नहीं ऐसी वहां कोई गारन्टी नहीं लगा सकते, इसलिए यह सुख पराधीन सुख है। पराधीन सुख होने के कारण यह हेय है। ज्ञान मूर्तिक भी होता और अमूर्तिक भी होता, इसी तरह से सुख भी मूर्तिक भी होता और अमूर्तिक भी होता। जो ज्ञान और सुख मूर्त्तिक है वह तो हेय है और जो ज्ञान और सुख अमूर्तिक है वह उपादेय है। मूर्तिक होने के कारण और इन्द्रियों से पैदा होने के कारण तो क्रम से इसकी प्रवृत्ति है। केवली के ज्ञान और सुख अमूर्तिक होने के कारण वह इन्द्रियों से पैदा नहीं होता और उसमें क्रम से प्रवृत्ति नहीं होती। उनके जैसे सर्व ज्ञान की पर्याय सर्व ज्ञेयों में एक साथ आई, इसी तरह से सर्व सुख की पर्यायें, जिसे अनन्त सुख कहते हैं उस अनंत सुख की सारी चीज उनमें एक साथ आती है। उस अनन्त सुख का यदि अनुमान करें तो यहां के जीवों को जितना सुख मिलता है उन सब जीवों का सर्व सुख जोड़ डालो और उनके तीनों कालों के सब सुखों को जोड़ लो, जोड़ने पर जो सुख आवे उससे भी अनन्त गुणा सुख वहां पाया जाता है। एक साथ तीनों कालों के सब सुख जितने से भी अधिक सुख उनमें होते हैं। परन्तु जीवों के तीनों कालों के सुखों की जाति उनके अमूर्त सुख में मिलती ही नहीं है, इसलिए उनके सुख की जाति तो बिल्कुल ही न्यारी है। यहाँ के जीवों में तो जो सुख है वह कर्म के उदय से है, इन्द्रिय से पैदा होते हैं, पराधीन हैं, दुख भी उसमें बीच बीच में आते

जाते हैं, कोई मनुष्य ऐसा नहीं है कि वह एक दिन भी लगातार सुखी ही सुखी रहे, कोई मनुष्य ऐसा नहीं मिल सकता जो निष्पक्ष दृष्टि से ऐसा कहदे कि वह आज दिन भर सुखी रहा। यहां के जीवों का यह ज्ञान और यह सुख दोनों पराधीन, विनाशीक, कर्म के उदय से होने वाले, क्रम से होने वाले, प्रतिपक्ष दुख सहित, हानि लाभ के अन्तर वाले हैं, इसलिए यह ज्ञान और यह सुख गौण हैं, लक्ष्य में लाने योग्य व आदर्श के योग्य नहीं हैं, इसलिए यह ज्ञान और यह सुख मूर्तिक है और मूर्तिक होने के कारण हेय हैं। किसी से भी प्रेम बढ़ा रहे, किसी से भी सुख बढ़ा रहे, उसी से अन्त में सुख न मिल कर दुख मिला। जिसके लिए इतना परिश्रम किया, जिसके सुख के लिए इतना उद्यम किया, वही अन्त में जाकर दुख के कारण बन जाते। मोह में यह नहीं सूझता। दो वर्ष के बच्चे को यह कह कर खिलाते कि वाह रे राजा, तू बड़ा होगा तो हमें सुख देगा। उस वक्त किसी को यह नहीं खयाल आता कि वह अन्त में दुख पहुँचा सकता है। वहां मोह में तो इष्टपने की कल्पना ही सूझती है, अपने अनिष्टपने की बात ही कल्पना में नहीं उठती है। सागर की बात है कि हम और गुरुजी दोनों ने वहां जेठ सुदी १४ का उपवास किया जब कि गर्मी बहुत पड़ती है। रात्रि में दोनों करीब पास पास सो रहे थे। एक बजे रात तक हम दोनों को नींद नहीं लगी तो हमने गुरुजी से कहा कि महाराज जी कुछ ऐसा लगता कि हमारे दर्शनावरण का क्षय हो गया। यह सुनकर के वे हंस दिये और उसी समय पड़ी ठंड, तथा हमें नींद आ लगी। सुबह चले मंदिर के लिए तो रास्ते में एक स्त्री एक लड़के को, जिसकी हड्डी निकल रहीं थीं, नाक से नाक बह रहा था, इस तरह से खिला रही, वाहरे बन्दरिया सुख देन बन्दरिया। तो यह सुन कर हमने गुरुजी से कहा कि क्या इसका वेद बदल गया है और क्या गारन्टी भी हो गई कि यह सुख ही देगा कहते हुए मुझे भी हंसी आई गुरुजी भी जोर से हंसे, हंसी के मारे चलते ही न बने तब मुझे मधुर तमाचा मार कर बंद किया। परन्तु वह मोह से देख रही थी।

तो मोह के उदय में कोई पुरुष अपनी संतान के प्रति यह नहीं सोच सकता कि यह इसके विरुद्ध भी कभी हो सकता है। ऐसे वह उसमें इष्ट ही इष्ट देखता है, अनिष्ट की कल्पना नहीं करता। तो यह सुख इन्द्रियज सुख है। इसमें उपादेय बुद्धि नहीं करनी चाहिए।

समन्तभद्र आचार्य सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति कर रहे थे, उस स्तुति में कहते कि स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेव पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा। तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः॥ सब लोग अपने शरीर को स्वस्थ देखकर कहते हैं कि मैं स्वस्थ हूँ। कोई पूछे तो भी उसका यही प्रयोजन लगाते। परन्तु स्वास्थ्य का मतलब क्या होता? स्व माने आत्मा और स्थ माने स्थित उसका भाव है स्वास्थ्य। जो अपनी आत्मा में स्थित हो जाता है वही स्वास्थ्य है। सेठजी से पूछें कि आप स्वस्थ हो तो अपना शरीर देखकर कह देते कि हां, मैं तो स्वस्थ हूँ। तब पूछने वाला ज्ञानी कहता कि सेठजी जरा दिमाग ठिकाने कीजिये कि आप स्वस्थ कैसे हैं? आप झूंठ क्यों बोलते हैं, आप अपनी आत्मा में स्थित कहाँ हैं। शरीर पर दृष्टि गई और शरीर की परिस्थिति को देखकर जो उत्तर दे रहे हैं वह गलत है। आपको यह कहना चाहिए कि मेरा स्वास्थ्य रंच भी नहीं है। हमेशा के लिए आत्मा में स्थित हो जाना यही अवस्था स्वास्थ्य है। स्वार्थ क्या है, हमेशा के लिए निज की आत्मा के अर्थ लग जाना यही स्वार्थ है। भोगना, अर्थात् भोग स्वार्थ नहीं है। संसार के सुख का भोग क्षणिक है इसलिए हेय है। जितनी देर को यह सुख भोगा है उतनी देर को भी यह सुख नहीं, क्योंकि उसमें भी भीतर से तृष्णा का सम्बन्ध है। भोग भोगते हुए, विषयसेवन करते हुए भी कितनी तड़फड़ाट, कितनी गड़बड़ाहट उसमें आ सकती। जो जीव मोह के कारण दो साल के बच्चे में यह बड़ा सुख देगा यह कल्पना कर सकता है वह मोही जीव अपने अन्दर के तृष्णा भाव में इसी को सुख मान कर कल्पना करे तो कौन सी आश्चर्य की बात है। यहां तृष्णा का सम्बन्ध है इसलिए वह

स्वास्थ्य नहीं, सुख नहीं और स्वार्थ नहीं। आचार्य श्री ने इसकी ऐसी हित-मय वाणी कही है कि यह सब सुख मात्र हवाई हैं और इनका बहाना जो देह है वह हवाई जहाज की तरह हैं, यह शरीर उसका यन्त्र है और ड्राईवर की तरह यह हमारी आत्मा है। इसके कारण ही शरीर की प्रवृत्तियां होती हैं। जैसे अजंगम यन्त्र जंगम पुरुष के द्वारा चलाया जाता है, इसी तरह से यह शरीर आत्मा के द्वारा चलाया जाता है। उसमें बैठने वाले तो अनन्त लोग रहते हैं। भैया! हमें एक बात याद आई हमें कई बार जब सड़क पर चलते हैं तो बढ़िया मोटर देखकर यह लगता कि इसमें तो कोई देवता बैठा होगा, परन्तु जब अन्दर देखते तो लगता कि यह तो वही हाड मास नाक मल मूत्र आदि से भरा हुआ पुतला बैठा है। यह जो शरीर है चाहे कितना ही सुन्दर रहो परन्तु यह शरीर हितू नहीं है। इसके चार अवगुण हैं। यह वीभत्सु है, अर्थात् भयानक है। जब जीव निकल जाता है तो शरीर को देख कर अन्दाज करो कि वह कितना भयानक होता है। दूसरी बात यह कि मोह के उदय में लगता है कि शरीर सुन्दर है। परन्तु उस सुन्दर शरीर में क्रोध का भाव आजाय तब उसके चेहरे को देखो कि वह कितना असुन्दर लगता। वह उस समय भी भयानक होता। और समय में जब वह शान्ति से बैठा है तो उस समय उसके मुख में सुन्दरता आई। वह सुन्दरता शान्ति के प्रताप से आई। इसलिए यह शरीर वीभत्सु हैं। इसके अलावा यह अपवित्र भी है अथवा यह तो जैसा है सो तैसा ही है। यदि इसको अपवित्र बनाया तो आत्मा के राग मोह ने बनाया। राग द्वेष मोह जैसी पर्यायों में रहने के कारण यह आत्मा ही अभी अपवित्र है। ये सारे खून, मांस और हड्डी अपवित्र हैं यह तो लोकव्यवहार है। परन्तु इनको व्यावहारिक भी अपवित्र बनाया किसने? जिसने अपवित्र बनाया वह हेय है या जिसे अपवित्र बनाया गया वह हेय है? एक लड़के ने एक चांडाल को छू लिया, इसलिए उससे कहते कि तुम नहावो वर्ना तुम अशुद्ध हो और उससे लड़के दूर रहते

यदि वह अछूता किसी को छूले तो वह दूसरा लड़का भी अछूता माना जाता तो फिर इन दोनों में से अधिक अछूता कौन। जो लड़का छू गया वह अपवित्र हुआ या जिससे छुआ गया वह अपवित्र रहा। वह लड़का तो सम्बन्ध से अछूता हुआ तथा दूसरा भी, परन्तु प्रथम अछूता तो पहिला है व चांडाल तो अपवित्र है ही। इसी तरह अपवित्र तो वह आत्मा हुई जिसके कारण शरीर को अपवित्र बनना पड़ा। तथा शरीर भी अपवित्र ही है। सुन्दर से सुन्दर चीज, सुन्दर से सुन्दर आँख सब अपवित्र हैं। इसका लक्ष्य कर जिस समय भी सोचता उस समय भी आनन्द नहीं आता। आत्मा राग मय है, परन्तु उसमें एक ही तरह का राग नहीं होता। यदि एक ही तरह का राग होय तो वहाँ तो विश्राम मिल जाता। यह विषय सुख पराधीन सुख है, सदा रहने वाला नहीं। यह सारा का सारा मूर्तिक सुख है, इन्द्रियज सुख है।

दूसरी तरह का ज्ञान सुख, जहां अमूर्त और अतीन्द्रियपना रहता है वह कैसा है? पहले तो ऐसी दृष्टि बनाओ कि वह जो सुख की बात सोची वह सुख अनन्त ज्ञान से अभिन्न है। वह ज्ञान सुख अमूर्तिक आत्म परिणाम की शक्तियों से पैदा होता है। जो चैतन्य का सम्बन्ध रखने वाली है, एक ऐसी आत्मा के स्वाभाविक परिणमन शक्तियों से अतीन्द्रिय होने के कारण वह सुख स्वाभाविक है जो सुख कि केवल आत्मा के स्वाधीन भाव से पैदा होता। अमूर्त आत्मशक्ति से ही जिसकी उत्पत्ति है वह ही अमूर्तिक अतीन्द्रिय सुख है।

यहां यह शंका होती कि आत्मा में सुख दुख के बिना नहीं होता। जहां दुख ही नहीं है ऐसे सिद्धों में, अरहंत में, सुख जैसी चीज ही क्या रहे। इसका उत्तर यह है कि पहली बात तो यह है कि उसे सुख शब्द से कहा जाय या आनन्द शब्द से कहा जाय। आत्मा में एक जाति का गुण अनादि से अनन्त काल तक रहता। संसार अवस्था में जितनी भी पर्याय होती हैं वे कोई न कोई गुण की वजह से होती हैं। आत्मा में जो दुख पैदा होता है वह भी किसी गुण की अवस्था से रहता तो जहां दुख न रहे

केवल सुख कहा, वहां आनन्द को सुख कहा। आनन्द में दुख की अवस्था नहीं रहती है। तो वह अवस्था आनन्द नाम से पाई गई है। हम जीवों की दृष्टि सुख से ज्यादा परिचित है। तो उसकी वह जो अवस्था है उसको जानने के लिए जहाँ ज्ञान के विकार में दुख आया था उसके अभाव में उस स्थिति को समझाने के लिए हम सुख शब्द से कहते हैं। वहां तो उसको आनन्द शब्द से कहा जाय तो ज्यादा अच्छा है। आनन्द का अर्थ क्या ? आ माने चारों ओर, और नन्द माने समृद्धि आजाये। चारों ओर से जहां समृद्धि आजाये उसे आनन्द कहते। इस तरह जो केवल का सुख है वह सुख आत्मा की परिणमन शक्तियों से पैदा होता। वह आत्मा के ही आधीन है, स्वाधीन ही है। सहज शुद्ध आत्मा के अभेद ज्ञान के कारण पैदा होता, ऐसा वह सुख, जिसमें संकल्प विकल्पों का नाम नहीं, वह सुख स्वाधीन है, पराधीन नहीं है। उस सुख की एक साथ प्रवृत्ति है। वह सारे के सारे अभेद परिच्छेदों से एक ही साथ प्रवृत्ति है। जिस समय सुख के विषय में कोई तारीफ की जाय, उतनी ही तारीफ ज्ञान के विषय में जानो और ज्ञान के विषय में जितनी भी तारीफ है वह सुख की तारीफ जानो, क्योंकि उन दोनों में अभेदपना है। ज्ञान और सुख विरोध रहित हैं, प्रति पक्ष रहित हैं, जो अवस्था सर्व दुख रहित हैं, ऐसा ज्ञान सुख मुख्य है, ऐसी बात जानकर ऐसी श्रद्धा करो कि ज्ञान और सुख ऐसा ही उपादेय है। ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञान सुख उपादेय है, ऐसा जो परिणाम होता उसमें यह श्रद्धा करो, इस श्रद्धा के साथ निश्चय उपादेय है, ऐसा परिणाम जो बना यह परिणाम भी हेय है। ऐसा भी विचार करो निश्चय उपादेय है ऐसा जो परिणाम हुआ वह परिणाम भी हेय है। ज्ञानी भगवान की भक्ति कर रहा, परन्तु भगवान की भक्ति ही करता रहना चाहे, तो यह बुद्धि जो है वह हेय है, परन्तु ऐसा परिणाम ज्ञानी के पैदा नहीं होता। भक्ति उसके

आती है, परन्तु उसको पकड़ कर बैठ जाय कि यह चीज मेरे ही में नित्य जमा रहे, ऐसा परिणाम उसके नहीं होता। कितना सावधान वह ज्ञानी है। किसी समुद्र के बीच में कोई आदमी जैसे एक बालिस्त भर की पुलिया पर चलता है तो कितना सावधानी रख कर चलता है कि कहीं मेरी सावधानी भंग न हो जाय जिससे मैं समुद्र में गिर जाऊं, इसी तरह से वह ज्ञानी कितना सावधान है कि वह कहीं भी डिग नहीं सकता। कितने विचार की उसमें शक्ति है। ऐसे योग्य आत्मा में जब विकल्पों से दूर ऐसा जो ज्ञान सुख होता है, जो अतीन्द्रिय भी है और अमूर्तिक भी है, वह उपादेय है, परन्तु जो यह परिणाम विकल्प कर रहा, यह परिणाम भी हेय है। इस प्रकार अमूर्तिक, ज्ञायक, अतीन्द्रिय, चिदानन्द ही जिसका स्वतःसिद्ध स्वरूप है, ऐसे सुख का कारण जो ऐसा ही ज्ञान है वह उपादेय है, परन्तु ऐसे विकल्प परिणामों में भी जम कर बैठ जाना हेय है। इस प्रकार आनन्द की यह भूमिका है। इससे मूर्त सुख में तो हेय बुद्धि और अमूर्त सुख में उपादेय बुद्धि आयेगी।

यह सुख का प्रकरण चल रहा है। सुख वही उत्तम है जो अतीन्द्रिय हो। स्वाभाविक निराकुलता रूप हो और अतीन्द्रिय हो, ऐसा सुख उपादेय है। इस अतीन्द्रिय सुख का कारण अथवा साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है, यद्यपि भेदविवक्षा में ज्ञान गुण का स्वरूप जुदा है और आनन्द गुण का स्वरूप जुदा है, ज्ञान का चिह्न संचेतन है और आनन्द का चिह्न आह्लाद है तथापि वस्तुतः देखो तो ज्ञान और आनन्द भिन्न भिन्न सत् नहीं हैं ज्ञान की सहज अवस्था आनन्द की सहज अवस्था को लेकर होती है और आनन्द की सहज अवस्था ज्ञान की सहज अवस्था को लेकर होती है। इन्द्रिय ज्ञान के समय इन्द्रिय सुख है और अतीन्द्रियज्ञान के काल में अतीन्द्रिय सुख है, मलीन ज्ञान में मलिन सुख व निर्मल ज्ञान में निर्मल सुख है। सुख ज्ञान के अनुरूप होता है तब यह प्रतीत होता है कि सुख का साधन ज्ञान है, हमें सुख चाहिये

है तो ज्ञान की संभाल करना चाहिये, जो ज्ञान की संभाल न करे और बाह्य पदार्थों की संभाल का यत्न विकल्पित करे तो वह सुख का पात्र तो क्या ! उल्टा वेदना ही पाता है क्योंकि सुख का साधन बाह्य द्रव्य नहीं किन्तु निजज्ञान ही है । यह आनन्द का प्रकरण चल रहा है इसमें यह तर्कणा चल रही है कि सुख कौनसा उपादेय है तब सिद्ध किया कि अतीन्द्रिय सुख ही उपादेय है । अब प्रश्न हुआ कि उसका साधन क्या है तब उत्तर में अतीन्द्रिय ज्ञान साधन है और वह उपादेय है ऐसा अभिस्तवन करते हैं, उत्तम बात कहना स्वयं स्तुति बन जाती है ।

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं ।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ।।५४।।

इस गाथा में यह बताते हैं कि अतीन्द्रिय सुख का साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है और वह अतीन्द्रिय ज्ञान ही उपादेय है । अतीन्द्रिय ज्ञान वह है जो अपनी सत्ताके लिये इन्द्रिय की अपेक्षा न करे । अतीन्द्रिय ज्ञान भी दो प्रकार का होता है । एक तो नित्य कार्य रूप और दूसरा स्वानुभव रूप । स्वानुभव रूप, अर्थात् सहज शुद्ध आत्मा का अभेद ज्ञान भी अतीन्द्रिय ज्ञान है । ऐसा ज्ञान मानसिक ज्ञान नहीं और जो मानसिक ज्ञान है वह स्वानुभव नहीं । छद्मस्थ अवस्था में मति और श्रुत ज्ञान चलते हैं और ये दो इन्द्रियज या मानसिक ज्ञान हैं सो जब तक विकल्पावस्था है उस अवस्था में स्वानुभव नहीं होता । इन्द्रियज ज्ञान के कारण से अतीन्द्रिय ज्ञान हो जाय यह बात असम्भव है, इसलिए मानना होगा कि केवल ज्ञान अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति का कारण कोई न कोई अतीन्द्रिय ज्ञान ही होगा । दूसरी बात यह है कि जो मति ज्ञान के बारे में यह बताया गया कि यह इन्द्रिय और मन के निमित्त से पैदा होता, तो उसका पैदा होना ही तो बताया गया । आत्मा में नित्य प्रकाशमान सहज शुद्ध जो सामान्य तत्त्व है उसका अभेद ज्ञान जब पैदा होने को है तो मन के विकल्प निमित्त कारण पड़ते हैं, जब उस विकल्प ज्ञान के अनन्तर निर्विकल्प अवस्था आती है तो उस समय

विकल्प ज्ञान नहीं चलता उसका लक्ष्य करके स्वतः प्रकट होने वाला जो परम पद है वहाँ अतीन्द्रिय सुख का साधनभूत जो ज्ञान है वह अतीन्द्रिय ज्ञान है और वह अतीन्द्रिय ज्ञान ही उपादेय है, ऐसा स्तवन करना इस ५४ वीं गाथा में बताया गया है।

जो ज्ञान-देखने वाले पुरुषके ज्ञान तरंग रूप जो ज्ञान है वह अमूर्तिक को भी जानता। वह अमूर्तिक क्या चीज है ? धर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य और इनसे भी श्रेष्ठ अतीन्द्रिय राग रहित सच्चिदानन्द ही है एक स्वभाव जिसका ऐसा परमात्म द्रव्य, ये ५ चीज अमूर्त हैं, इस अमूर्त को भी जानता, मूर्त पदार्थ जो हैं उनको भी जानता और जो प्रच्छन्न हैं, काल से प्रच्छन्न हैं, ऐसे भूत भविष्य की चीज, और जो क्षेत्र से प्रच्छन्न अलोकाकाश के प्रदेश आदि और भाव से प्रछन्न सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु आदि, द्रव्य से प्रच्छन्न वे सभी पिण्ड इन सब प्रच्छन्नों को भी जानता है और कुछ को भी जानता है। वह और कुछ क्या ? भूतकाल में अपने द्रव्य में आने वाली या पर द्रव्य में आने वाली जो और भी चीज है, विभाव, अशुद्ध अवस्था इन सब को भी जानता है, ऐसा ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान है और वह ज्ञान ही सर्वज्ञके अतीन्द्रिय सुख का साधन है। इन्द्रिय ज्ञान में यह शक्ति नहीं कि वह अतीन्द्रिय सुख का साधन बन सके, केवल अतीन्द्रिय ज्ञान में ही ऐसी शक्ति है। अतीन्द्रिय ज्ञान अमूर्तिक और मूर्तिक को भी और अमूर्तिक मूर्तिक में भी प्रछन्न आदि सब को जानता है। जो बड़ी मुश्किल से कोशिश करने पर भी समझ में नहीं आने वाले द्रव्य, जो क्षेत्र, काल और भाव से भी प्रच्छन्न हैं, क्षेत्र से प्रछन्न अलोकाकाश के प्रदेश, काल से प्रच्छन्न जो वर्तमान में नहीं हैं ऐसी भूत और भविष्य की पर्याएं और भाव से प्रच्छन्न स्थूल पर्यायोंमें घुसी हुई जो सूक्ष्मसे सूक्ष्म पर्याएं होती वे सब केवलीकी ज्ञान पर्यायोंमें रहती ही हैं क्योंकि वे सबको सब वहां प्रत्यक्ष हैं। द्रव्यमें सबसे अधिक सूक्ष्म चीज काल द्रव्य है। वह काल द्रव्य ऐसा है जिसकी पर्याय समय है, वह द्रव्य से प्रच्छन्न है, क्षेत्र से

अलोकाकाशके प्रदेश प्रच्छन्न हैं और काल से प्रच्छन्न भूत और भविष्य की पर्यायें हैं जो काल से ढकी होती हैं, भाव से प्रच्छन्न स्थूल पर्यायोंमें घुसी हुई सूक्ष्म पर्यायें हैं। जैसे एक बालक एक महिने में एक अंगुल बढ़ गया, परन्तु वह तो समय समय पर बढ़ रहा, परन्तु उसका वह प्रतिसमय बढ़ना भावसे प्रच्छन्न है और उसका वर्णन नहीं किया जा सकता और एक महिने भर में उसका एक अंगुल बढ़ना दिखाई दे गया तो उसका वर्णन किया गया। एक मोटी पर्याय में भी प्रति समय सूक्ष्म पर्यायें चल रहीं हैं जिन्हें हम परिवर्तन कहते, वे सूक्ष्म पर्यायें भाव से प्रच्छन्न हैं। ऐसे सब प्रच्छन्नोंको भी जो देख लेते हैं, ऐसे अतीन्द्रियज्ञानी जीवोंके स्वयं अतीन्द्रिय सुख होता है। अतीन्द्रिय सुख उसी के होता है जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान हो। ज्ञान को छोड़कर सुख नहीं रहता और सुख को छोड़कर ज्ञान नहीं हो सकता। सुख और ज्ञानमें ऐसा ही भाईचारा है। ऐसे ज्ञान और सुखका सम्बन्ध अभिन्न है। ज्ञानके बिना सुख नहीं रहता और जहां सुख नहीं हो वहां ज्ञान नहीं रहता। यहां ही यह बात बतलाते कि अतीन्द्रिय सुखका साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है।

यहां यह प्रश्न हुआ कि जब ज्ञानसे अभिन्न सुखको बतलाया जारहा है तो ज्ञान और सुख दो गुण नहीं बतलाना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि यहां स्वरूप दृष्टि से तो ज्ञान और सुख दो हैं, परन्तु ज्ञानसे जुदा सुखका संवेदन नहीं बताया जासकता और सुखसे जुदा ज्ञानका संवेदन नहीं बताया जासकता इसलिए वे अभिन्न हैं।

यहां फिर यह प्रश्न होता कि और भी ऐसे गुण हैं जो ज्ञानसे अभिन्न नहीं बताये जा सकते तो उनको भी ज्ञान से अभिन्न करदो। इसका समाधान यह है कि जब उन गुणोंका वर्णन आयगा तो वे भी ज्ञानसे अभिन्न होजाएंगे। जैसे सूक्ष्म गुण ज्ञान से अभिन्न हैं। यदि ज्ञानके स्वरूप निर्माण में से सूक्ष्म गुणको निकालदो तो उसका सूक्ष्मपना मिट जाना चाहिए और वह स्थूल होजाना चाहिए, परन्तु ज्ञान स्थूल तो नहीं होजाता। इसलिए सभी गुणोंको देखो जो आत्मा में भरे हुए हैं वे

सब अपनी भिन्न भिन्न लक्षण सत्ताको लिए हुए होते हैं, परन्तु वे ज्ञानसे भिन्न नहीं। उस आत्माकी शक्तियों को बताया जारहा है कि वे सब गुण उस आत्मा द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं और द्रव्य की सत्तामें ही हैं इसलिए सब अभिन्न हैं। प्रारंभिक दशा में शिष्यों को समझाने के लिए भेददृष्टिसे वर्णन होता है और समझ चुकने के बाद अभेद दृष्टिसे वर्णन होता है यह अध्यात्म वर्णनका तरीका है। आध्यात्म अनुभव में उतरे हुएको पूछे कि मोक्षमार्ग क्या है तो वह एकदम यह नहीं कहेगा कि दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्ष मार्ग है। परन्तु यह कहेंगे कि जो एक ज्ञानमात्र अभेद परिणति मोक्ष की चलती होती उस एक परिणति को कहेंगे कि यह अभेदानुभव मोक्षका मार्ग है। फिर वे कहेंगे कि ज्ञान का श्रद्धान स्वभावसे रहना सो सम्यक् दर्शन है, ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना सो सम्यक् ज्ञान है और ज्ञानका रागादि भावों के त्यागके स्वभावसे होना सो सम्यक् चारित्र है। इसलिए ज्ञान ही दर्शन, ज्ञान ही ज्ञान और ज्ञान ही चारित्र है यह अभेद दृष्टि से बतारहे। चारित्र वह जो किसी वस्तु को जाने और ऐसा जाने की उसके जानने में रागादि भाव नहीं रहे, परन्तु वह चारित्र क्या ? चारित्र वह कि जो बहुत देर तक ज्ञानमय बना रहे। दर्शन क्या ? ज्ञान का ज्ञान रूप से बना रहना और इससे विपरीत श्रद्धा न लाना, इसीको दर्शन कहते हैं। तो ज्ञान का ज्ञान रूप से बना रहना यह सामान्यतया अनुभव किया यही दर्शन हुआ और ज्ञान का ज्ञानरूप से होना, यह ज्ञान हुआ व बहुत देर तक बना रहना यह हुआ चारित्र। तो इस प्रकार दर्शन ज्ञान और चारित्र ये तीनों गुण अभेद ही है।

अब यह प्रश्न होता कि ज्ञानमें यदि अनन्त गुण आगए तो ज्ञान द्रव्य होजायगा। गुण जो होते हैं वे द्रव्य के आधार से होते हैं, तो सारे गुण ज्ञान के आधार होते हैं तो ज्ञान को द्रव्य होजाना चाहिए। इसका समाधान यह है कि यहाँ अन्य गुणोंको जो ज्ञान में मिलाया वह आधार से नहीं मिलाया है। वे तो सहयोगी होकर मिले

हैं। आधारसे होकर मिलना यह तो द्रव्यमें ही होता और सहयोगी होकर मिलना यह अलग चीज है। सहयोगी होकर वह अभेद रूप न होजाय तो वह एक स्वरूप है ही क्या? ज्ञान में से सब गुण निकालदो तो फिर इनको निकाल देने से ज्ञान में उल्टी चीज आ जानी चाहिए। फिर उस ज्ञानका स्वरूप क्या रह जायगा यह सोचो। इस आत्मा को देखो। वह आत्मा ज्ञानमय है। अब यह ज्ञान कितने मय हैं। ज्ञान सूक्ष्म भी हैं, ज्ञान परणमता इसलिए अगुरलघु भी है, ज्ञान अमूर्तिक भी है, ज्ञान स्थिर भी है। यदि ये गुण सहयोगी होकर एक दूसरे को ठोंस लेने के साधन न रहें तो यह बताओ कि ज्ञानका कोई अस्तित्व भी रहेगा क्या? नहीं रहेगा। इस तरह ज्ञानमें जितने गुण हैं वे अपृथक रूप से रहते, फिर भी एक गुण दूसरे गुण के आधार रूप नहीं, सहयोगी रूप है। सहयोगी रूप से वे सब गुण न्यारे नहीं हैं। उन सब गुणों का अभेद पिंड एक आत्म द्रव्य है। और वह आत्मा ज्ञानमय है। यदि उसमें से कोई एक गुण भी निकाला जाय तो कोई गुण उसमें नहीं टिक सकता। द्रव्य की दृष्टि से देखो। एक चीज है और वह परणमती है। परिणमन भी एक है। एक समय में एक परिणमन है, ऐसी उस चीज में कल्पना करके गुण ढूंढते। द्रव्य की तरफ से देखते तो ऐसा लगता कि गुण तो उसमें मानी हुई चीज है। यदि गुण की तरफ से देखते तो ऐसा लगता कि द्रव्य क्या है समस्त गुणों का एक अभेदपिण्ड द्रव्य है। तब और द्रव्य क्या रहा द्रव्य तो मानी हुई चीज है। यह तत्त्व का विकट रहस्य है। जो है वह अनुभव में तो सत्य उतरता है परन्तु वचनों से सत्य नहीं उतरता। हर पहलुओं से दीखा वह तो चीज है और जो कल्पना से जिस एक तत्त्व का आलंबन किया वह चीज नहीं। जैसे अंगुलीके सहारे चन्द्रमा दिखाया जाय तो देखनेवाला केवल उंगलीको ही नहीं देखता और न बीचके मार्गको ही देखता, वह तो उस ऊंगलीकी सीधसे चद्रमाको देखता। इसी तरह से सब दृष्टियोंसे जहां वह एक निर्विकल्प

अखंड एक ज्ञान स्वभाव अनुभवमें आए तो वह सत्य लगा और उस अनुभवमें विकल्प किया तो वह सत्य नहीं लगेगा। उस अनुभवको यदि वचनसे कहें तो वह सत्य बात नहीं बैठेगी। यह चीज पुद्गल द्रव्यों के भी ऐसी ही है, केवल आत्मद्रव्यके ही नहीं। जैसे कोई कहें कि मिश्री तुमने जो खाई उसका स्वाद समझादो। परन्तु मिश्रीका स्वाद समझाने में असमर्थ होजाओगे। कहोगे कि बड़ी मीठी चीज है। गन्ने से बनती है। गन्नेमें से इतना मैल निकालने तो गन्नेमें जो मीठा निर्मल रस रह जाता है उससे अधिक मीठा गुड़ बनता है। गुड़में से भी मैल निकाल कर शक्कर बनाते जो गुड़से भी ज्यादा मीठी होती है। उस शक्करको भी और स्वच्छ बनाकर मिश्री बनाते तो वह शक्करसे भी ज्यादा मीठी होती है। यह तो बताया कि वह मिश्री इतनी अधिक मीठी होती है, परन्तु सुननेवालेको मिश्रीके मिठासकी सचाईका अनुभव नहीं होपाया और स्वयं जिनने उसे खाई तो वे उसके रसका अनुभव करलेंगे, परन्तु समझा नहीं सकेंगे। इसी प्रकारसे ज्ञानके अनुभवको वचन से कहें तो वह सही नहीं बैठेगा। सारे गुणोंका एक समूह, ऐसा एक जो पिंड है वही तो एक द्रव्य है। गुण द्रव्यके आधार में है। द्रव्यकी जगहसे देखो तो द्रव्य है, द्रव्य का परिणमन द्रव्यकी यह तरंग है, और तरंगमें सब गुण विद्यमान हैं। आत्मा जानता है तो ज्ञान गुण, देखता है इसलिए दर्शन गुण, रागादिसे रहित है इसलिए चारित्र गुण, निराकुलताका भाव है इसलिए सुख गुण, अमूर्तिक है इसलिए अमूर्तिक गुण, अनुमत होते हैं, ये आत्मा की शक्तियां हैं जिनके परिणाम स्वरूप आत्मा की तरंग होती हैं, उन्हें कहते हैं शक्तियाँ या गुण। इन सब गुणोंमें से किसी भी एक गुणका निर्माण ही सारे गुणों की वजह से होता है। यदि उसमें से और गुणों को भिन्न मानें तो एक गुण भी अपना स्वरूप कायम नहीं रख सकता। परन्तु एक गुणका भी अन्य कोई गुण आधार नहीं है। आधार होगा तो उनमें अभेद सिद्ध नहीं होगा।

देखो भैया! अमृतचन्द्र सूरि महाराजको ज्ञानसे इतना पक्षपात

होगया कि सुखका वर्णन करनेकी बात कहरहे थे परन्तु उनको तो ज्ञानकी ही धुन है, आनन्दका वर्णन करते हुए उसमें भी ज्ञानको रख दिया, ऐसा उनके पक्ष लग गया। कुछ भी वर्णन करें तो बीचमें ज्ञान का वर्णन करने लगजाते यह उनमें पक्षपात होगया। सब जगह उन्होंने ज्ञानको खोंस दिया। तो अमृतचन्द आचार्य ज्ञानगुणके ही पक्षमें इतने क्यों आए? एक दृष्टिसे यदि देखें तो इन सब गुणोंमें राजा एक ज्ञान गुण है और ऐसा मालूम होता कि इस ज्ञानकी रक्षाकेलिए ही वे सारे गुण हैं। ज्ञानमें यदि अमूर्तिकपना न आये तो यह ज्ञान मूर्तिक बन बैठेगा और वह अतीन्द्रिय ज्ञान ही नहीं रहेगा। इस प्रकार ज्ञानके स्वरूपकी रक्षाके लिए अमूर्त गुण आया। ज्ञानकी सत्ता रख देने के लिए ही उसमें सूक्ष्म गुण आया। आत्मामें सूक्ष्म गुण है। ज्ञान ज्ञान ही रहे अन्य गुणरूप या अन्य द्रव्यरूप अथवा अध्रुव पर्यायरूप न बनजाये इस शक्तिको अगुरुलघु बनाये है। सो देखो अगुरुलघुने भी ज्ञानकी रक्षा की। कल्पना करो कि किसी ज्ञानसे किसी आत्मासे यह गुण मिट जाय तो वह आत्मा का स्वरूप कैसे रह सकता। परन्तु किसी आत्मासे सूक्ष्म गुण न मिट जाय यह सोच कर ज्ञानकी भावना आत्मामें करनी पड़ी है, ऐसी तो कल्पना नहीं होती। सहज आत्माका ज्ञान गुण समाप्त न होजाय इसलिए ज्ञान आया, ऐसी बात भी कल्पना में नहीं आपाती। परन्तु ज्ञान न मिट जाय इसलिए अगुरुलघु गुण आया। जितने भी गुण हैं मानो इन सब को ज्ञान गुण की आवश्यकता नहीं परन्तु ज्ञान गुण को सबगुणों की आवश्यकता है। आत्मा के अन्दर ज्ञान गुण एक ऐसा ही प्रधान गुण है। यदि आत्मासे कहते कि तुझे बहुत गुणोंमें रहते हुए बहुत दिन होगया, आज एक गुण कम करना चाहता हूं तो सोचते कि किस गुणको नष्ट किया जाय। किसी भी गुणको निकालेंगे तो आत्मा ही बिखर जायगी। आत्माकी ही सत्ता नहीं रह सकेगी। इसके अतिरिक्त ये ज्ञानके अतिरिक्त बाकी गुण ऐसे हैं जो किसी तरह ज्ञानके बिना कहीं टिक सकते हैं, परन्तु आत्मामें और जितने

गुण हैं उनके बिना ज्ञान नहीं टिक सकता। पुद्गलमें अगुरुलघु, धर्म और अधर्म में सूक्ष्म और अमूर्तिक गुण आदि प्रकार रह सकते हैं, ये ज्ञान के बिना टिक सकते हैं परन्तु इन सबके बिना ज्ञान नहीं टिक सकता। सूक्ष्म कहते किसे हैं, जो सूक्ष्म हो, ज्ञान उसे कहते हैं जो जानता है। इस बुद्धिमें स्वरूपका भेद आया इसलिए उनमें भेद पड़ा, परन्तु आत्मामें भेद नहीं चल सकता। आत्माका वह ज्ञान तो सब गुणों सहित है। वही ज्ञान सर्वगुण है। किसी भी द्रव्यको जिस गुणकी मुख्यता से देखो वह द्रव्य उसी गुण रूप प्रगट होता है। ऐसे सर्व गुणोंका पिंड अभेद रूप आत्मा है। उस आत्मामें जब तक ज्ञान अतीन्द्रिय नहीं आयगा, वह ज्ञान! जिसमें अनादिसे चैतन्य सामान्यका सम्बन्ध है, एक ही ऐसी आत्माको, जो प्रतिनियत है, इतर किन्हीं भी सामग्रियोंको नहीं खोजता, अपनी अनन्त शक्तियोंके कारण जो अनन्त बन गया। ऐसी अपनी स्थितिको अनुभव करनेवाला ज्ञान है, जो ज्ञान किसी के द्वारा निवारण नहीं किया जा सकता, वह ज्ञान जब तक आत्मा में नहीं आयगा तब तक अनन्त सुख प्राप्त नहीं हो सकता। वह ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञान ही अनन्त सुखका कारण है। अतीन्द्रिय सुख इन्द्रीय ज्ञानमें नहीं आ सकता। अतीन्द्रिय ज्ञानकी दृष्टि से ही अतीन्द्रिय सुखको देख सको तो वह अनुभव हो सकेगा।

यहां पर प्रश्न हुआ कि अतीन्द्रिय सुख अतीन्द्रिय ज्ञानके बिना नहीं होता यह तो समझमें आया। परन्तु हमारे होरहा है इन्द्रियज ज्ञान जिसके द्वारा वह सुख समझमें आयेगा ही नहीं, तो जो चीज समझमें आही नहीं सकेगी, उसको समझाने का कष्ट क्यों किया जाता है? इसका समाधान यह है कि अतीन्द्रिय ज्ञान दो प्रकार के हैं। एक सब में रहने वाला और दूसरा केवलीमें रहने वाला। छद्मस्थमें रहने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान यह है जो सहज शुद्ध सामान्य तत्त्व मय आत्मा के अभेद ज्ञान सामान्य है, उसमें जो मानसिक विकल्प होता है उसकी उत्पत्तिके बाद वह निश्चय जब दृढतामें आता है तो आत्मा उन विकल्पोंको

छोड़ता है और यह आत्मा तब स्वानुभवको पाता है और स्वानुभवकी उस स्थिति को ही अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। उस चीजको बतानेकेलिए यह इन्द्रियज ज्ञान और यह मानसिक ज्ञान बताया गया। जैसे शास्त्रोंका पढ़ना शास्त्रोंको भूलनेकेलिए ही होता। इनमें विकल्प जो किया उसकी सफलता इस विकल्पके त्यागमें ही है। यहां कोई कहे जब निर्विकल्प अवस्था की बात है जब फिर विकल्पोंको छोड़ना ही है फिर शास्त्रविकल्प से लाभ क्या तो भाई! शास्त्रोंके विकल्प उस निर्विकल्प अवस्थाको पानेकेलिए ही किया। जब वह अवस्था आजायगी तो उन्हें भूलना ही पड़ेगा। यदि यह कहो कि जब शास्त्रोंको भूलना ही पड़ेगा तो शास्त्रोंको पढ़नेसे फायदा ही क्या? परन्तु ऐसा किये बिना वह निर्विकल्प अवस्था पाओगे कैसे। इसी प्रकार इन्द्रियज ज्ञानकेद्वारा इतने विकल्पोंको पैदा करनेके बाद निर्विकल्प अवस्थाको पानेवाले अतीन्द्रिय सुखके स्वरूपको भी समझ सकते हैं। यहाँ इस तरह यह सिद्ध किया कि अतीन्द्रिय सुखका साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है, इसलिये अतीन्द्रिय ज्ञान ही उपादेय है और इन्द्रिय ज्ञान हेय है।

कलके प्रकरणमें यह बात बताई थी कि अतीन्द्रिय सुखका साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है और बात है भी यही कि जैसा ज्ञान होगा उसी विषयक, उसी शैलीका सुख होता। मिठाईके ज्ञान बिना मिठाईके स्वादका सुख क्या? इन्द्रियज्ञानसे इन्द्रियसुख होता और अतीन्द्रियज्ञानसे अतीन्द्रिय सुख होता। जैसी ज्ञानकी तारीफ वैसी ही सुखकी तारीफ और जो सुखकी तारीफ वह ही ज्ञान की तारीफ, ज्ञान और सुखमें इसी तरहका भाईचारा या अभेदपना है।

आज बतलाते हैं कि जो इन्द्रियज्ञान इन्द्रियसुखका साधन है वह हेय है। इन्द्रियसुखका साधनभूत जो इन्द्रियज्ञान है वह हेय है। इस जीवके अनादिकालसे जो इन्द्रिय ज्ञान रहा वह अब नहीं चाहिए। अब ५ इन्द्रियोंके विषयोंमें जो सुख आते हैं वे नहीं चाहिए। वह इन्द्रियज्ञान जो अतीन्द्रियज्ञानका विपक्ष है हेय है उस इन्द्रियज्ञानकी प्रकृष्ट निन्दा

करते हैं–देखो भैया! श्रीमत्कुन्दकुन्ददेवने अतीन्द्रियज्ञानका कुछ स्वरूप ५४ वीं गाथा में कहा था वह तो स्तवन बनगया था वहां कहीं आचार्यश्री ने स्तवन नहीं किया था मात्र कुछ स्वरूपही बतायाथा और अब इस ५५ वीं गाथामें भी इन्द्रियज्ञानका स्वरूपही बतारहेहैं। किन्तु स्वरूप ही ऐसी पराधीन अपूर्ण विशुद्ध अवस्थाको लिये हुए है कि स्वरूप कहते ही निन्दा होजात है इसमें केवल इन्द्रियज्ञानकी ही निन्दा नहींहै इन्द्रियसुखकी पहिले निन्दा है। प्रकरण भी सुखका ही तो चलरहाहै-इन्द्रियज्ञानतो हमारे सत्पथके प्रारंभिक यत्नमें कभी कोई सहकारी भी होसकता है किन्तु इन्द्रियसुख तो सदा मेरी शांतिके विरुद्ध ही रहताहै। यहाँ इन्द्रियसुखके साधनीभूत इन्द्रियज्ञानका विशेपतया प्रणिनन्दन करतेहै–वर्णन करते हैं–

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥५५॥

यह इन्द्रियज्ञान कैसा है? यह जीव तो स्वयं अमूर्तिक है, परन्तु शरीर से इसका सम्बन्ध होनेके कारण यह मूर्तिकके द्वारा ही मूर्तिकको ही जानता है। इन्द्रिय विकल्प, क्षयोपशम, मानसिक विकल्प, ये सब मूर्तिक हैं। इनकेद्वारा मूर्तिक यह जीव को अवग्रह करके जानता है। यह जीव प्रारंभिक अस्पष्ट विकल्प करके जानता है और योग्य को जानता है। जो सामने पड़ा है या स्थूल है ऐसी चीजको जानता है अथवा नहीं भी जानता। यह जो भी जानता है वह जाननेमें जानना नहीं कहा जा सकता। जैसे कभी पिता किसी बेटेसे जबरदस्ती कोई काम कराता है तो वह कहता है कि क्या यह करनेमें करना है, पहलेसे ही प्रेम और विवेकसे यह कार्य होता तो वह करनेमें करना होता। इसी तरहसे जो ज्ञान ऐसा है जो मूर्तिकके द्वारा जानता, मूर्तिकको जानता, अवग्रह करके जानता, और कुछ ही को जानता, वह कोई जाननेमें जानना है। आत्मा में स्वभाव तो सर्वज्ञ, त्रैकालिकका है, यह स्वभाव होतेहुए भी पराधीन की तरह जानना क्या जाननेमें जानना है। इस प्रकारसे जो इतनी गड़बड़ियों

वाला ज्ञान है वह कोई ज्ञानमें ज्ञान है। इसे आचार्य कहते हैं कि यह ज्ञान नहीं है। इन्द्रियज्ञानके जरिये से नाना प्रकारके अवगुण आते हैं। यह तो कुछ इन्द्रियज्ञान मिला जब तो इतना घमंड इस जीव के है, यदि असंभव एक कल्पना करें यह केवली मान कषायका जरासा भी अंश अपने ज्ञानमें पाते तो कल्पना करलें कि वे अपने ज्ञानकेद्वारा दुनियांकी क्या दशा कर डालते? केवलीसे तात्पर्य इसजीवको यदि इतना बड़ा ज्ञान इस कषायमें रहता तो अनर्थकी हद होजाती तो ज्ञानमें मान कषाय नहीं आता इसीसे सर्वज्ञपनेमें मान कषाय नहीं आता। यहां हमारा इन्द्रियज-ज्ञान कैसा है यह बात बतलाते हैं। इन्द्रिय ज्ञान मूर्तिसे तो जानता है और मूर्तिको ही जानता है। मूर्तिकको ये ही जानता है इसलिए वह पराधीन है स्थूल पदार्थोंको ही जानता और मूर्तिकके द्वारा अर्थात् इन्द्रिय ज्ञानके द्वारा ही जानता। स्वभावसे अमूर्तिक होतेहुए भी यह जीव पांच इन्द्रियवाले मूर्त शरीरको प्राप्त हुआ। अमूर्तसेमूर्तकी सन्निधि पाई तो ऐसा फल हुआ कि यह मूर्तके द्वारा ही जान पाता और मूर्तको ही जान पाता। तो ज्ञानके उत्पन्न होनेमें जबरदस्तीका कारण लग जानेके कारण ये इन्द्रियादि चेलेंज दे रहे हैं तुम कुछ जान पाओगे तो हमारे हुक्मसे, हमारे सहयोगसे ही जान सकते हो। हमारे बिना कुछ नहीं कर सकोगे, यह बलाधान निमित्त ऐसा होगया कि इसके बिना कुछ गड़बड़ ये कर ही नहीं सकता। ऐसा जो इन्द्रियज्ञान है वह मूर्तिकके द्वारा मूर्तिक को ही, जिनमें कि स्पर्श रस आदि गुण हैं ऐसे योग्यको ही, अवग्रह करके जानता है। यह इन्द्रियज्ञान किसी पदार्थको जानता है तो पहले अवग्रह होता है। अब इसके बाद क्षयोपशम विशेष हो व यदि हमारा उपयोग लगा तो और ज्यादा ईहादि ज्ञान होने लगा और यदि यह बात नहीं हुई तो अवग्रह होकर ही समाप्त होजाता। इसप्रकार थोड़ासा प्रतिभासमें आ पाता और समाप्त होजाता, ऐसा इन्द्रियज्ञान है। इसमें शुद्धि होय तो आगे भी जान पाता। हम किसी चीजको भी देखते हैं तो हमारा ज्ञान पराधीन होने के कारण ऐसा लगता कि हमने जल्दी ही उसे समझ,

लिया, परन्तु वहां अवग्रह आदि क्रमसे ज्ञान हुआ। कदाचित् क्षयोपशम विशेष होता तो आगे बढ़ें, अर्थात् कुछ ज्यादा समझ लेते। यह इन्द्रिय-ज्ञान मेरा हित नहीं है, यह तो मेरे स्वभावका घातक ही है अर्थात् बहकानेवाला है। ऐसे विशुद्ध स्वभाववाले चैतन्यकेलिए यह ज्ञान गुण और इसमें ही रमकर रह जाना यह तो एक बड़ा अपराध है, बड़ा कलंक है और आगेकी उन्नतिमें बड़ा भारी रोड़ा है। यदि ऐसी बात आई तो अतीन्द्रिय सुखकी प्रवृत्ति नहीं रही। इसलिए यह बताया कि यह इन्द्रीय ज्ञान हेय है।

यह परोक्ष ज्ञान कैसा है? यद्यपि इसमें अनादिकालसे ही शुद्ध चैतन्य सामान्यका सम्बन्ध है। इस इन्द्रीयज्ञानी जीवको समझा रहे कि तेरे अन्दर चैतन्य सामान्यका सम्बन्ध अनादि काल ही से स्वतः ही है परन्तु इन्द्रियजालमें फंसे होनेके कारण स्वयं अपने आप स्वधीनतया आत्माकेद्वारा अर्थोंको जान लेनेमें असमर्थ होगया। जैसे आंखसे सब देखते हैं, फिर भी आंखमें पट्टी लगादेवें तो स्वयं अपने देखनेमें असमर्थ होगया, इसी तरह अनादि कालसे चैतन्य सामान्यका सम्बन्ध पाया, परन्तु फिर भी अज्ञान रूपी अंधकारसे अंधा होगया और अर्थोंको जानने में असमर्थ होगया। इसके बाद प्राप्त और अप्राप्त जो पर निमित्तक सामग्रियां हैं, उनकी खोजकेलिए व्यग्र होगया। जब स्वयं नहीं जान पाता यह जीव, तो जाननेकेलिए १० अन्य चीजोंका सहारा लेता और उनको खोजनेकी व्यग्रता पैदा करता। इस व्यग्रतासे वह अपनी शक्तियोंको खो देता। यह जीव अल्पज्ञानी है और स्वयं जाननेमें असमर्थ है और अपने जाननपनेसे जाननेकेलिए अन्य सामग्रियोंकी खोजमें व्यग्र होगया तो उसने अपनी स्वयंकी शक्तियां खो दी। हमारी अनन्त शक्तियां इसीलिये खराब होगई कि हम अज्ञानकी ग्रन्थीसे गुंठित होनेसे पदार्थोंको स्वयं जाननेमें असमर्थ होगये, परन्तु बुद्धिमें बहुत बहुत जाननेकी इच्छा पैदा होगई, जब स्वयं जाननेमें असमर्थ हैं तो फिर आश्रय खोजते, इस तरह आश्रय खोजनेकी व्यग्रता पैदा होती, तो उससे इस आत्माकी अनन्त शक्तियाँ

नष्ट होगई। यहां यह विशेषण दिया कि प्राप्त सामग्री और अप्राप्त दोनों सामग्रीको अपने ज्ञानको बढ़ानेकेलिए खोजनेमें व्यग्र होजाते। परन्तु उस जीवकी सत्ता तो उसीके आधीन है। आंख कमजोर होगई, उसका जाला निकलवाते हैं, तो यह आंख तो हमारी सत्ता नहीं है। आंख सुधरना या बिगड़ना यह जो परिणमता है वह तो मेरे आधीन नहीं है, परन्तु जो पर पदार्थ हैं अथवा परसामग्री है उसको खोजनेमें जो व्यग्रता आती, वह व्यग्रता तो पराधीन सामग्रीको खोजनेके लिए होती, इसलिए उस व्यग्रताके कारण उसका ज्ञान मोटा बन गया, ऐसा जो संस्थूल ज्ञान है वह अनन्त शक्तिके मिट जानेसे अधीर है और अपने आपको टिका नहीं सकता, अस्थिर है। ऐसा जो यह इन्द्रियज्ञान है वह महान मोह मल्लके वशमें होनेके कारण है। जैसे कि एक लड़केको मारनेवाले उसके चार भाई हैं, तो उसकी कैसी दशा होती, एकने पटका, एकने मुक्का मारा, एकने घसीटा और एक ने थप्पड़ मारा, और उस लड़केका कचूमर निकल गया। तो हमारे इस इन्द्रिय ज्ञान में कैसी दुर्गति चलरही है, कदाचित इन्द्रियज्ञान भी होजाय तो टिके भी नहीं, १० जगह भी जाय, इतना ही होजाय तो भी ठीक है, सन्तोषकी बात है, परन्तु इतना ही नहीं रहने दिया, वहां तो महा मोह मल्ल जिन्दा है इसलिए पर पदार्थकी परणतिमें उसका अभिप्राय आगया। परपरिणतिमें अभिप्राय होना ही मिथ्यात्व हैं। यही संसारमें रुलानेवाला भाव है। ऐसा अभिप्राय होनेपर भी जगह जगह पर ठगाया गया। यह जीव अनादिकालसे ठगाया गया ही तो रहा। यदि परकी परिणति मेरे आधीन होती और परकी परिणतिका अभिप्राय भी आता तो भी बुरा नहीं था, किन्तु मोहसे यह ज्ञान बार बार ठगाया जाता है यह तो इसका कचूमर ही निकालता।

एक दुष्टके अथवा एक पापीके नावमें आनेसे कहते हैं कि सारी नौका डूब जाती, इसी तरहसे एक मोहके आने से इन्द्रियज्ञानको भी गालियां मिल रही हैं और न जाने कितनी गालियां और मिलेंगी। इन्द्रियज ज्ञान कैसा है, इसके अवगुण बतलारहेहैं। यह मूर्तिकके द्वारा

जानना, मूर्तिकको ही जानता, बलाधान निमित्त होते हैं निमित्त जिनके उनके निमित्तसे जानता, ऐसा पराधीन भी है, फिर अवग्रह करके रह जाना, कदाचित ही ऊपरको जाना। कहते यहां तक भी ठीक है। जैसे चतुर एक लड़केको कोई पीट रहा, वह लड़का पिटता हुआ यह सोचरहा कि चलो मुक्के ही तो लग रहे, हन्टर तो नहीं लग रहे, फिर हन्टर भी लगने लगें, तो सोचना कि हन्टर ही तो लग रहे, फांसी तो नहीं लगी। इसी तरहसे इस पिटते हुए संसारी जीवको ऐसा बतलाते हैं कि चलो इतना ही सही, अभी यह तो नहीं हुआ। परंतु यह और तो लगा ही है अनादिकालसे अज्ञान होनेके कारण यह स्वयं पदार्थोंको नहीं जानता, कहते कि इतना भी हो तो कोई बात नहीं, परंतु वहां तो पदार्थोंको जाननेके लिए पराधीन सामग्रीको खोजनेमें व्यग्रता आती और उस व्यग्रताके होने से उसके ज्ञानकी अनंत शक्ति नष्ट होजाती। इतना होनेपर भी उसमें निरंतर विप्लव होते और वह एक जगह नहीं टिक सकता। इसके बाद भी एक और लगी है कि मोह महामल्ल लगा है उसके कारण परिणतिका अभिप्राय भी उसके साथ लगगया उससे तो उसमें बड़ा बुरापन आगया। परको मैं यों करूं, ऐसा परणमा दूं, ऐसा अभिप्राय इसके साथ लग गया और उस लगनेके साथ एक बात और लगी कि यह समय समयपर बहुत ठगाया भी तो जाता है। पर पदार्थको यों परणमा दूं ऐसा अभिप्राय बना रहे। और ऐसा होना भी रहे तो भी कोई बात नहीं, वह पिटने वाला कहता है कि अभी तक भी हमारी कोई हानि नहीं है, परन्तु वह बारबार ठगाया भी तो जाता है। आचार्य महाराज कहते हैं कि एक जिस ज्ञानके अन्दर इतनी गड़बड़ियाँ दिखती हैं और उसपर भी ठगाया ही गया, ऐसा इन्द्रियज्ञान यदि जानता है तो मैं समझता हूं कि यह तो जानता ही नहीं। ऐसा ज्ञान ऐसी सम्भावनाके ही योग्य है। इसलिए यह जो इन्द्रिय-ज्ञान है वह हेय है। इन्द्रियज्ञान ही मेरा स्वरूप है, इन्द्रियज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, इस प्रकारकी बुद्धि ही हेय है। वह अतीन्द्रिय सुख इन्द्रियज्ञान-के सम्बन्ध से नहीं आता। जहाँ इन्द्रियज्ञान होता है, इसके निमित्त राग

द्वेष आदि भाव भी साथ चला करते हैं, इसलिए वह इन्द्रियज्ञान जगह जगहपर गालियां ही खाता है। परन्तु वास्तवमें इन्द्रियज्ञानका दोष क्या ? आँखसे जो देखते तो देखनेमें जो राग भाव लगा है उसमें बुरा होता, आंखके देखनेमें तो बुराई नहीं हुई। साधु पुरुष घर छोड़ कर साधु हो जाता है, उसे कभी स्त्री ही पड़गाहनेको आती, यदि वह सोचे कि यह मेरी स्त्री है इसलिए मैं यहां आहार नहीं करता, तो उसका मुनिपना नष्ट होगया। यदि वह सोचे कि मैंने उसे छोड़ दिया है इसलिए आहार नहीं करता, तो यदि उसने स्त्री को ही छोड़ा था तद्विषयक विकल्प नहीं छोड़ा तो वह मुनि ही नहीं बना, वास्तवमें मुनि तो रागको छोड़ता। वहां नेत्रोंसे ही देखते, परन्तु नेत्रोंसे देखनेपर भी वह बुद्धि तो नहीं है जो गृहस्थ अवस्थामें थी। तो आंखका तो दोष नहीं होता, यदि दुर्भाव हो तो वहाँ रागभावका ही दोष होता। यह राग इतना चालाक है और बदमास है, कि घर में आग तो यही लगावे और बदनाम करे इन्द्रियज्ञानको। राग ही सारी चालाकी कररहा है, और इन्द्रियज्ञानको गालियाँ पड़ रही हैं। इस रागके ही इन्द्रिय ज्ञानमें लगेरहनेके कारण आकुलताकी संतति नष्ट न होगी अतः यह इन्द्रियज्ञान हेय है। वह इन्द्रियज्ञान अतीन्द्रियसुख का घातक भी है इसलिए ही हेय है। इन्द्रियज्ञानको छोड़कर अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुखको ही प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहना इसीके मायने धर्म है। भगवान के सामने प्रार्थना करते समय भी उस ज्ञान सामान्यका ध्यान करो। जो जीव अपने चैतन्य सामान्यके अनुभवमें लग गया तो उस अनुभवमें रमजानेसे वहां कितने ही कर्म नष्ट होगये। परन्तु २४ घंटे अन्य कार्योंमें दृष्टि रहनेसे वह निरावलम्ब अवस्था में नहीं लग सका, इसलिए वह अवलम्बन करता। भगवान जो अतीन्द्रियज्ञानी हैं और अतीन्द्रिय आनन्दवाले हैं, वे अमूर्तिक परमात्मद्रव्य भगवान हैं। वह भगवान हमारी स्वयंकी आत्मा ही है। उस अतीन्द्रियसुखवाले, अतीन्द्रिय ज्ञानवाले परमात्माका कोई आकार नहीं दीखता, वह तो ज्ञानके द्वारा अपनी ही परिणति में उसका ध्यान करनेसे अपनी ही परिणतिमें उसका

दर्शन होता है। भगवानको भगवानमें नहीं देख सकते, भगवानको तो हमारी आत्मामें ही देख सकते हैं। सिद्ध लोकमें रहने वाले सिद्धोंको हम वहीं देखें तो सिद्धको नहीं जान पाते, क्योंकि वहां विकल्प है। उसके स्वरूपका आलम्बन लेकर जो हमारी अपनी ज्ञानपरिणति होती, उस परिणतिमें जो अनुभव बना, उस अनुभवमें उनके दर्शन होते। अपनी ही ज्ञान परिणतिके अमृतभाव में हम सिद्धों और अर्हन्तके दर्शन कर सकते, परन्तु सिद्धके अथवा अर्हन्तके स्थानपर उनके दर्शन नहीं कर सकते। भगवानके मिलनेकी जगह तो यह हृदय है। भगवानकी मूर्ति भी यहीं मिलेगी, फिर बाहर जानेकी क्या आवश्यकता है।

एक मनुष्य अपने हाथमें कुछ लिए था। उसने दूसरे मनुष्यसे पूछा कि मेरे हाथमें क्या है? जिन जिनसे उसने पूछा सब हैरान होगये और किसीने भी कुछ नहीं बताया। एकने कहा कि हम तो नहीं बता सकते, आप ही बताओ कि आपके हाथ में क्या है। तब वह बोला कि मेरे हाथमें हाथी, घोड़े, मन्दिर, यहां तक की तीनोंलोक विद्यमान हैं। तब वह बोला कि महाराज खोलकर बताओ। हाथ खोला तो उसमें स्याहीकी टिकिया थी। तब लोगोंने कहा कि वाह आपने तो बताया था कि मेरे हाथमें इतनी चीजें हैं। और यहां तो यह स्याहीकी टिकिया ही है, आप तो झूंठ बोलते हैं। तब उसने कहा कि ठहरो अभी बताता हूं और यह कह कर उसने वह स्याहीकी टिकिया थोड़ेसे पानी में मिलादी और एक कलम लेकर अपने हाथमें हाथी बना कर कहने लगा कि देखो मेरे हाथमें यह हाथी है, फिर घोड़ा बनाकर कहने लगा कि यह घोड़ा है। इस प्रकार हाथमें तो स्याही ही थी, परन्तु कलम से लिखना शुरू किया तो सब कुछ बन गया। आत्मा तो इसी तरह हाथ है, ज्ञान उसमें स्याही है और कलम चारित्र है, यदि इस कलमकी मददसे स्याहीसे लिखना शुरू करें तो सबसे ऊंचीसे ऊंची चीज यहीं मिलेगी, फिर कहां आँख गड़ाएं। आलम्बन हमारा है, परन्तु आलम्बनमें रह कर भी हम उस भगवानकी खोजमें जाएं तो वह भगवान हमको यहीं मिलेगा। समशरणमें

भी जो देखते हैं, उस आकारसे भी भगवान नहीं, जिनको हम त्रिशलाका नन्दन, सिद्धार्थका नन्दन बोलते हैं, वह भी भगवान नहीं, जिसको हम नामसे पुकारते हैं, महावीर, वर्द्धमान, वह भी भगवान नहीं, भगवान तो मेरे क्षेत्रमें रहने वाला जो विशुद्ध ज्ञानानन्दमय स्वरूप है वह है। बहुत समय से हम अन्यत्र अपना उपयोग लगा रहे थे उस उपयोगको वहाँसे निकालकर भी परमात्मामें जो उपयोग लगा रहे थे वहां पर हमनें भगवान को नहीं पाया, परन्तु भगवानको हमने अपने आपके ज्ञानपर प्रयोग करके अपने ही परणतिसे उस ध्यानमें बनाया तो वहां जो वीतरागपनेका जो स्वाद आया उसमें हमने भगवानको पहचाना। मैं स्वयं परमेश्वर हूँ, इसलिए परमेश्वरके दर्शन करसकता हूं। व्यक्त परमेश्वर नहीं हूँ, फिर भी जो परमेश्वरका स्वभाव पड़ा है और हम उपयोग लगानेके कारण हम अपनेमें जो परमेश्वरका थोड़ा अनुभव कर पाते, उस अनुभवकेद्वारा हममें पूर्ण परमेश्वरता का स्वरूप जाननेमें आजाता। परमेश्वर का दर्शन मैं अपनी ही परणतिसे, अपने ही विवेकसे करलेता हूँ। उसका दर्शन व परिणमन ही सत्य सुख है वह इन्द्रियज्ञानसे नहीं होता। तो अतीन्द्रिय सुखका का घातक जो इन्द्रिय ज्ञान है उसमें हेय बुद्धि रखना यही हमारी बुद्धि होनी चाहिए। लालच करो तो सबसे बड़ेका करो जिस बड़े के लालच में लालच नहीं टिक पाता।

कल तो यह वर्णन था कि यह इन्द्रियज्ञान मूर्तिकके द्वारा जानता और मूर्तिकको ही जानता, अवग्रह करके जानता, योग्यको जानता और इसके अलावा अनन्त शक्तिके न रहनेसे, मोह मल्लके जीवित रहनेसे विभाव-रूप हुआ, यह इन्द्रिय ज्ञान बुरा है, और इतना ही नहीं वह परपरिणति करता और परपरिणतिके करनेपर भी ठगाया ही जाता है, इसलिए यह इन्द्रियज्ञान हेय है। इस प्रकार इन्द्रियज्ञानकी हेयता का इतना कड़ा वर्णन किया और फिर भी आज कहते कि यह इन्द्रीय ज्ञान हेय ही है। जो किसी जीवके लिए हितकारी नहीं है, वह इंद्रिय ज्ञान हेय ही है ऐसा अब निश्चय करते हैं। प्रश्न—तो क्या अब तक यह निश्चय किया नहीं

जानता था। उत्तर—आचार्यश्रीको तो ये सब निश्चय हैं ही फिर भी उन्होंने जो अवधारयति शब्दसे व्यक्त किया उसके यहां ३ रहस्य हैं १–इस अन्तराधिकारके इस स्थल में इन्द्रियसुख और इन्द्रियज्ञानके बारेमें कुछ वर्णन तो करही दियाथा उस निःसार तत्त्वके प्रति अधिक समय या उस ओर वर्णन करनेमें अधिक उपयोग देना पड़े पुरुषोंकी नैसर्गिक आदत नहीं होती है, निःसारके विषयमें अधिक वर्णन करना कुछ उसकी महत्ता प्रकट कर देनेके बराबर है अतः इस स्थलमें अधिक न कहकर यह हेयत्व बतानेवाली अन्तिम गाथा कह रहे हैं। २—अवधारयति शब्द णिजंत भी होताहै जिससे यह अर्थ होता है कि निश्चय करातेहैं जिन भव्यजीवोंपर करुणा करके भगवंतका प्रयत्न होरहा है उनको उपदेश देकर अन्तमें ऐसा निश्चय करवातेही हैं, आचार्यश्री तो दयालु ही हैं यदि कोई धर्मपुत्र उनको आज्ञाको स्वीकार न करे तो वे पुत्र नहीं कुपूत हैं, देखो भैया कैसी निःशंक वाणी है आचार्यदेवकी तभी तो वे निश्चय कराते ही हैं। ३—वक्ता भी वर्णन करते करते गहरी हल्की सलय की उमंगोंमें चढ़ते ही रहते हैं यहां सूरीश्वर ऐसे विरक्तता की तीव्र काष्ठामें आगये कि इन्द्रियसुख ज्ञान का उपयोग ही दूर करनेवाले हैं सो जघन्य एवं मध्यम अन्तरात्मओं पर दया कर इस वर्णनके कामको समाप्तकरनेके लिये स्वयंके वैराग्यसे भरे हुए देव अवधारयति कर अपने को निर्मलतामें ले जारहे हैं।

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति ।

अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥५६॥

अब यह बतलाते कि यह इन्द्रियाँ अपने विषय मात्रमें भी एक साथ प्रवृत्ति नहीं कर सकतीं, इसलिए हेय ही है ऐसा निश्चय करते हैं। इन्द्रियोंके क्या क्या विषय हैं? इन्द्रियाँ ५ हैं। स्पर्शन कितनेका नाम है? साराका सारा शरीर स्पर्शन हैं, नाक भी, जीभ भी, यह कान जो दीख रहा वह कान भी, यह आंख जो दीखती वह आंख भी, वे सब स्पर्शन ही हैं। परन्तु इसी स्पर्शनमें कोई ऐसी चीज है जो घ्राण, चक्षु, कर्ण

अथवा रसना कहलाती है। परन्तु रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये इन्द्रियां दीख ही नहीं सकतीं। जो दीखती हैं वे तो सब स्पर्शन इन्द्री हैं। जो घ्राण कर लेते हैं, सुन लेते हैं या स्वाद लेते हैं, वे कौन सी चीजें हैं। ये दीखते नहीं हैं किन्तु हैं। इन्द्रियों के विषय पांच हैं, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द। उनमेंसे स्पर्श रस गन्ध और वर्ण तो प्रधान हैं और एक शब्द अलगसे कहा गया है। इन पांचों इन्द्रियों में रति है, वह तो डूबनेका साधन है, संसारमें रुलनेका साधन है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये ४ पुद्गलके अन्दर गुण हैं, इसलिए प्रधान हैं। शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है इसलिए वह प्रधान नहीं है। शब्द पुद्गलका गुण नहीं है, वह तो पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, वह पुद्गल द्रव्यके संयोग अथवा वियोगमें निकला करता है। द्रव्यके संयोग वियोगमें ये पर्यायें होती हैं। शब्द वर्गणा नामकी खुद एक अलग पुद्गल द्रव्य है और उसकी पर्यायें भी हैं। उस शब्दवर्गणामें रहनेवाला भी जो रूप रस गन्ध आदि पर्यायें हैं उनमें भी शब्द पर्याय नहीं है। शब्द तो बिलकुल अलग पर्याय है।

यहांसे हिन्दी याने भाषा प्रचलित हुई, जहाँ से ये शब्द प्रचलित हुए, ये अकारादि आदिनाथ स्वामीके समयसे चले। प्रश्न हिन्दीके इन शब्दोंको इस क्रमसे क्यों रक्खा ? हिन्दीमें क्रम इसलिए है कि सबसे पहले जो आवाजका उद्गम स्थान है वह कंठ है। उसमेंसे निकलकर वह आवाज दूसरी ठोकर तालूपर देती है। तालू कहते हैं जीभके नीचे ऊपर दांतके समीप हिस्से को। फिर इसके बाद मिलता है ओंठ। फिर मूर्धा मिलती। इस तरह से ही और इसी क्रमसे इन अक्षरोंका भी उद्गम हुआ। स्वर एक अलग चीज है और व्यंजन अलग चीज है। स्वरोंका घंटवारा पहले लगाते हैं। सबसे पहले अ आ आता और वह कंठकी प्रधानताको लिए होता है। फिर इ ई आती है, वह तालूकी प्रधानतासे होती। फिर आता है उ ऊ, उसे होठकी प्रधानताके बिना नहीं बोल सकते। इसके बाद आती मूर्द्धा। ऋ ॠ ये मूर्द्धाकी प्रधानताके बिना नहीं

बोले जा सकते। इसके बाद आते लृ लॄ ये दांतोंकी प्रधानताके बिना नहीं बोले जा सकते। इस प्रकार स्वरोंमें स्थानोंका क्रम है। जैसे स्वरों में स्थानोंका क्रम है, इसी तरह जिनवाणीमें भी यंत्रादि में यही क्रम है। स्वर किसे कहते हैं ? स्व माने स्वयं अथवा स्वतन्त्र होकर और र माने शोभायमान हों बोले जाएं। जो स्वतन्त्र होकर या जो स्वतन्त्र रूपसे बोले जाएं वे स्वर। व्यंजन किसे कहते हैं ? जो स्वयं अथवा स्वतन्त्ररूपसे न बोले जाएं। बिना स्वरोंकी मददके व्यंजन नहीं बोले जा सकते। हलन्त भी बिना स्वरोंके सहारे के नहीं बोले जा सकते, चाहे पहले सहारा लें अथवा बाद में। इसलिए पहले उनका नम्बर रक्खा जो स्वतन्त्रतासे बोले जा सकें, और फिर जो लंगड़े रह गये व्यंजन, उनका नम्बर रक्खा। व्यंजनोंका क्या क्रम है ? व्यंजनोंका भी वही क्रम है जो स्वरोंका क्रम है। पहले वे अक्षर आते जो कंठकी प्रधानतासे बोले जाते, जैसे क ख ग घ ङ। इनमें क शुद्ध अक्षर है और ख में कुछ और गर्म हवा मिलती। अंग्रेजी में भी के में एच मिलाकर ख लिखा जाता है इसी प्रकार हिन्दी में शुद्ध में थोड़ा जोर लगा कर ख लिखा जाता या बोला जाता। ग दूसरी चीज है और घ को भी ग में थोड़ा जोर लगाकर बोला जाता। फिर कंठके बाद तालु आया और वे अक्षर आये जो तालुकी प्रधानतासे बोले जाते, जैसे च छ ज झ ञ। इनमें भी वही क्रम मिलता। च शुद्ध अक्षर और उसमें थोड़ा जोर और लगाकर छ, ज अलग अक्षर और उसमें भी थोड़ा जोर लगानेपर झ, ञ नासिकासे बोलते हैं इसलिए उसे अन्त में पटक दिया। फिर आते ट ठ ड ढ ण, ये मूर्धासे बोले जाते। इनमें भी वही क्रम रहता और ण नासिकासे बोला जाता इसलिए उसे अन्तमें रख दिया। फिर दन्त आया, त थ द ध और न ये दांतकी प्रधानतासे बोले जाते। इनके बोलने में भी वही क्रम आता। इनमें भी न नासिकासे बोला जाता इसलिए अन्तमें रक्खा गया। फिर होठके सम्बन्ध से बोले जानेवाले अक्षर प फ ब भ म ये अक्षर आते। इनमें भी वही क्रम होता और म नाक से बोला जाता। फिर आते य र ल व। वास्तवमें इनका क्रम है य व र ल,

और ये दो स्वरोंके मिलने से बनते। इ और अ मिल कर य, उ और अ मिल कर व, ऋ और अ मिल कर र, लृ और अ मिल कर ल इन्हें भी ऐसा बनाकर फिर अ निकाल कर देखो। इनको २५ व्यन्जनोंके बाद इसलिए रक्खा कि ये दो स्वरों से मिल कर बने हैं। दो स्वरोंके मिलनेके कारण वे स्वर की जातिके न रहे और व्यञ्जनों जैसे लगने पर भी शुद्ध व्यञ्जन न थे अतः स्वरोंमें से निकालकर बाहर कर दिये गये और उन्हें व्यञ्जनों में २५ अक्षरोंके बाद स्थान मिला। और बोल निकालनेमें सुविधा य र ल व बोलनेमें लगी इसलिए इनका क्रम य व र ल न होकर य र ल व होगया। फिर आते श ष स ह। इनको ऊष्मा कहते हैं। इनको बोलनेमें मुंहसे गर्म हवा निकलती है। ऐसे तेज हवा वाले अक्षरोंको अन्त में रख दिया है। श तालुसे बोला जाता है इसलिए यह तालवी श कहलाता है, ष मूर्द्धासे बोला जाना है इसलिए इसको मूर्द्धनी कहते हैं, स दांतोंकी प्रधानतासे बोला जाता है, इसलिए इसको दंती स कहते हैं। फिर अन्त में जो अक्षर आते वे हैं क्ष त्र ज्ञ। इनको अन्त में यों रक्खा गया। कहते कि ये तो कोई शब्द ही नहीं हैं। क और श के सम्बन्धसे क्ष बनता है, त और र के सम्बन्धसे त्र बनता है, ज और ञ के सम्बन्धसे ज्ञ बनता है। तो ये तो दो व्यञ्जनों के सम्बन्ध बनते हैं इसलिए कहते कि ये तो कोई ही नहीं हैं। इसलिए ही इनको अन्तमें रक्खा गया है। इसी तरह स्वरोंमें भी ए ऐ ओ औ अं और अः आते हैं, परन्तु कहते कि ये भी शुद्ध स्वर नहीं है, इसीलिए इनको भी अन्त में पटक दिया है। अ और इ के सम्बन्ध से ए, अ और ए के सम्बन्ध से ऐ, अ और उ के सम्बन्ध से ओ, अ और ओ के सम्बन्ध से औ बनते हैं, फिर कहते कि अं और अः तो कोई स्वर ही नहीं है। यदि इन्हें ही स्वर माने तो और भी कई स्वर और बन सकते हैं। स्वरोंके उच्चारण में नाकका जोर पड़ा व कण्ठका जोर पड़ा इसलिए ये अक्षर और बन गये। मुख्य स्वर तो अ इ उ ऋ और लृ ही हैं। इस प्रकार ये क्रम हिन्दी भाषाकी उत्पत्ति का है।

इस तरह ये जो शब्द हैं ये पुद्गल शब्द वर्गणाकी पर्याय हैं।

पुद्‌गलके रस रूप गुण इसके गुण नहीं हैं। २२ वर्गणाओंमें शब्द वर्गणा एक अलग वर्गणा है। उन वर्गणाओंको यह शब्द वर्गणा बनाती है। परन्तु यह स्वयं भी एक पर्याय है, इसलिए इसको सबसे अन्तमें रख दिया। इस प्रकार स्पर्श, रस, गंध और वर्ण, ये तो प्रधान हैं और शब्द अलग है। तो यह जो इन्द्रिय ज्ञान है उसके द्वारा उसके ये सारे विषय एक साथ ग्रहणमें नहीं आ सकते। क्योंकि उसमें इस जातिकी क्षयोपशम की अवस्था नहीं है। ऐसा यह इन्द्रियज्ञान जो स्वयं अपने विषयोंको ही एक साथ न जान पाये वह हेय ही है। पहले पूर्णतया इन्द्रिय ज्ञानको हेय बता दिया और उसकी हद करदी, फिर भी आचार्य महाराज कहते कि इसमें एक और दोष है वह यह कि वह इन्द्रिय ज्ञान एक साथ अपने विषयोंको भी तो नहीं ग्रहण कर सकता। जैसे कहते कि कोई आदमी अपने घरमें भी तो आराम से, मित्रतासे नहीं रह सकता, इसी तरह इन्द्रिय ज्ञान अपने विषयमें भी तो एकसाथ प्रवृत्ति नहीं कर सकता औरकी बात तो छोड़ दो। ५ इन्द्रियोंके जो विषय हैं उनको यह आत्मा एक साथ नहीं करती। क्योंकि ऐसे क्षयोपशम का उपयोग युगपत् नहीं है। उसके अन्दरकी शक्ति क्रमसे चलती है। इसलिए इन्द्रियज्ञान अपने सारे विषयों को क्रमसे जान पाता है। जैसे लगता ऐसा है कि कौवेके दोनों आंखोंमें २ गटा याने एक तारा है। जल्दी जल्दी आंखें चलनेकी वजहसे ऐसा लगता है कि दोनों आंखोंमें गटा तारे हैं। इसी प्रकार इन्द्रियोंके जाननेकी शक्ति अलग अलग है, इन्द्रियज्ञान क्रमसे होता, परन्तु जल्दी जल्दी काम होनेसे ऐसा लगता कि उसके सब काम एक साथ होरहे हैं। परन्तु इन्द्रिय ज्ञानमें अपने विषयोंके पांचों इन्द्रियोंके काम एक साथ नहीं होरहे। जैसे सौ पानोंको एक पिनसे छेदा जाता औरएक छेद होनेके बाद ऐसा कहते कि एक साथ सारे पानोंमें छेद कर दिया, परन्तु वहाँ तो वह एक पानमें छेद होने के बाद दूसरे पानमें छेद होनेमें भी असंख्यात समय लग गया। उन असंख्यात समयोंका अन्तमुर्हूर्त होता। तो इन्द्रियज्ञानद्वारा जो उसके विषयक जानना हुआ वह न जाने कितने अन्तमुर्हूर्तमें हुआ।

इसलिए इन्द्रियज्ञानमें यह शक्ति नहीं है कि वह एक साथ सब ज्ञान कर सके। कौवेके तारेकी तरह तो उपयोग और आँखकी तरह ये इन्द्रियाँ। द्वार तो सब मौजूद हैं, परन्तु उपयोग रूपी तारा तो क्रम क्रमसे ही फिरा करता। वहां एक साथ सारी इन्द्रियोंके ज्ञानका बोध नहीं होता। जैसे कि किसी आदमी को किसी पशुसे विरोध था, तो वह उसे मार कर बेहोश कर देता और फिर हाथसे हिला हिला हिला कर देखता कि वह मरा कि नहीं, यदि उसमें थोड़ा सा भी प्रतीत हो कि जीव है तो वह उसके एक मामूली सा घाव और कर देता जिससे कि वह मर जाये, यहां दृष्टान्तकी क्रूरता पर न जाकर शैली देखो उसी तरह आचार्य महाराजने बड़े बड़े घाव दे देकर यह बताया कि इन्द्रियज्ञान कितना हेय है, इसके बाद फिर हाथ लगा कर देखते कि अभी भी यह पूर्ण हेय सिद्ध हुआ कि नहीं और अब फिर देखते तो पता लगता कि एक और दोष लगा कि वह एक साथ अपने विषयोंमें भी प्रवृत नहीं होता। तो यह भी एक घाव और लगा दिया कि यह तो हेय ही है।

यह प्रकरण सुखका चल रहा है और ज्ञानी अमृतचन्द्र सूरि महाराजको ज्ञान का इतना ध्यान है कि सुखका वर्णन करते हुए ज्ञानको भी बीचमें ले आते। सुखका वर्णन तो कररहे हैं कि सर्व प्रकारसे उपादेय जो अनन्त सुख है उसका उपादानरूप जो ज्ञान है वह केवलज्ञान है, जो एक साथ सारे पदार्थोंको जानता है। वह केवलज्ञान ही अनन्तसुखको भोगता है। इन्द्रियज्ञान एक साथ बहुत चीजोंको नहीं जानता, इसलिए वह हमारे सुखका क्या कारण होगा? वह अनन्त सुखका क्या कारण होगा? इसका कारण तो अतीन्द्रियज्ञान ही है जो एक साथ सबको जानता है। अतीन्द्रिय ज्ञानकी कला सब जीवोंके अन्दर मौजूद है, सब अपने शुद्ध स्वभावको लिये हुए हैं, परन्तु राग द्वेष मोहके कारण जो विषय कषायोंकी रूचि है उसके कारण हमारा ज्ञान ठगाया हुआ है।

इस प्रकरणसे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जो रात दिन हम कल्पना कररहे हैं, जिसमें हम एकदम पड़ेहुए हैं या जिस प्रवाहमें हम पड़ेहुए हैं

उसमें न पड़ें और थोड़े रुकें और सोचे कि ये तो हमारे हितकी चीज नहीं है, तो ही हमारा कल्यान होगा। जब वस्तुकी स्वतन्त्रताकी श्रद्धा आगई तो सबको निश्चय हो ही जाना चाहिए कि एक दिन सबको इन विषयोंको छोड़ना ही पड़ेगा। यदि यह श्रद्धा हो जाय तो ऐसे जीवोंको विषयोंमें श्रद्धा हो ही कैसे सकती है। जैसे किसीको राजा बनाया जाय और कहा जाय कि ६ महीने बाद तुमसे यह राज छीन लिया जायगा और तुम्हें बनमें ढकेल दिया जायगा जहां तुम सड़ सड़ कर मरोगे, तो उस ६ महीने के राजाको अपने उस राजमें कैसी श्रद्धा होगी। वह तो हमेशा सोचेगा कि मुझे तो ६ महीने बाद राजगद्दीसे उतारा जायगा व बनमें चला जाना पड़ेगा और वहां सड़ सड़ कर मरना पड़ेगा। तो ऐसे आदमीको तो चाहिए कि वह अपने बनको ही इस ६ महीनेमें सुधार ले जहां कि उसको अन्तमें जाकर रहना है। इसीतरह जिस सम्यग्दृष्टिको यह श्रद्धा होगई कि ये पर्यायें तो छूट ही जाएंगी तो उसकी वर्तमानके विषयोंमें क्या श्रद्धा या क्या रुचि रहेगी। उसे तो उन्हें छोड़ना ही होगा तो जिसे इस तरह छोड़कर एक दिन जाना है तो उस जानेके स्थानको अभीसे सुधारो तो सुख की प्राप्ति होगी। यदि यहांसे अलग होकर ही जाना है तो हमें चाहिए कि हम हमारी परिस्थितिको मजबूत बनालें ताकि सड़ सड़कर न मरना पड़े। उस समय हमें कोई मदद नहीं करेगा। हमें अकेला ही जाना पड़ेगा। जो कुछ हम अपनी परिणति यहां सुधार लेंगे उसीसे हमारा यह लोक और परलोक सुधरेगा। इसलिए हमें सबसे बुद्धि हटाकर अपने निज आत्मस्वरूपपर अपने ज्ञान स्वभावकी दृष्टि स्थिर करनी चाहिए। अतीन्द्रिय सुखका साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है और उसी अतीन्द्रिय ज्ञानमें हमें अपनी बुद्धि लगानी चाहिए। इन्द्रिय ज्ञानको हेय समझना चाहिए। ✓

(प्रकाशकीय नोट—गाथा नं० ५७–५८–५९–६० प्रवचनोंका नोट मिल नहीं सका जिसका खेद है)

उक्त ६० वी गाथामें यह भली प्रकार सिद्ध कर दिया है बता दिया

है कि केवलज्ञान ही सुख है, ऐसी ही अनुमोदना की। भगवान् सर्वज्ञदेव का सुख कैसा है यह विचारतेही उसही जातिका सुख ध्याताको भी होने लगे तो सच्ची अनुमोदना वहां है। प्रश्नकारने प्रश्नकिया था कि केवल ज्ञानमें भी तो परिणमन करते रहनेका कष्ट है वहाँ अनंत सुख कैसे हो सकता है इस सूदम उलाहनका भी जहां समाधान पूर्ण दे दिया जावे व होजावे तो भैया ऐसे वक्ता और श्रोता ही सच्ची अनुमोदना कर ही चुकते इसमें संशय कहां रहा ? परिणमन तो स्वरूप है उपाधि नहीं, स्वरूप स्वका घात नहीं करता तव ज्ञानका पूर्ण ज्ञानरूप निष्कंप क्षोभरहित बना रहना ही तो अनंत सुख है। केवलज्ञानमें और सुखमें व्यतिरेक कहां ? इसलिए केवल ज्ञान ही सुख है ऐसा निश्चयकर उसके अनुरूप अपना अन्तश्चरण करना। इस निरूपणके अनंतर फिर भी आचार्य देव केवल ज्ञानकी सुखस्वरूपताका निरूपण कर चैतन्यनेत्रसे देख भाल कर उपसंहार करते हैं याने उस स्वरूपको उप-अपने समीप (अन्तर में) सं-भलेप्रकार सावधानीसे जैसेकि फिर बिखर न जावे इस तरह हरण करते हैं अर्थात् अपनेमें उस स्वरूपको रखते हैं-उपसंहारसे लोकमें भी यह भाव रहता है कि जो करना है सो करलो अब चर्चामें समय न गमावो। यहाँ अपनी चर्चाका उपसंहार करते हैं-

णाणं अत्थंतगयं लोयालोयेसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥६१॥

यह आनंदका प्रकरण है। आनन्दकी अवस्था क्या है ? जो केवल सत्य सुखमय अवस्था है वही आनन्दकी अवस्था है। सुखका स्वरूप तो केवल ही है। अज्ञान भाव या अज्ञानकी परिणतिमें जो भी समझमें आता है, वह आकुलतामय है। यह पिंड तीन चीजोंका समूह है, जीव कर्म और नो कर्म। कर्म तो निमित्त होता और नोकर्म आश्रय होते। यहां यह समझा जाता कि जगतके बाह्य पदार्थोंसे मुझे सुख मिलता है, परन्तु जगतके बाह्य पदार्थ मेरी कोई भी परिणतिमें प्रेरणा देनेवाले नहीं हैं। उत्तम मकान अपनी जगह ही तो है, उत्तम वस्तुएं अपनी ही सत्ता

में तो हैं, यह जीव ही आत्म स्वभावसे च्युत होकर उन पदार्थोंके विषयमें कल्पनाएं स्वयं करता है और तभी यह जीव सुखी होता है। सच्चे सुख-का स्वरूप तो वह केवल अवस्था ही है। निगोद आदिमें भ्रमता हुआ यह जीव मनुष्य जीवनकी स्थितिमें आया तो फिर इसको व्यर्थ ही नहीं खोना चाहिए। मनुष्य भव ही एक ऐसा भव है जो ऊंचेसे ऊंचे स्थानपर भी पहुँचा सकता। मनुष्य ही श्रुतकेवली कहला सकता है, इसके विपरीत देव भी चाहे उतनी ही योग्यता रखते हों, परन्तु वे भी श्रुतकेवली नहीं कहला सकते। ऐसा प्रभाव इस मनुष्य भवपर किसका पड़रहा है? एक संयम का ऐसा प्रभाव पड़रहा है। मनुष्य जन्मका कितना उत्कृष्ट स्वरूप है। इसीसे मोक्ष मिल सकता है।

इन्द्रियसुख तो हमने अब तक बहुत भोगा, मात्र आकुलता ही प्राप्त करसके हैं। जगतके पदार्थोंमें तो कुछ प्राप्त करनेके बजाय यह जीव खोकर ही चला जाता है। इस तरह यहां सुखका स्वरूप बतलाते हैं कि परके संयोगमें सुख नहीं है। प्राणियोंको जो इतना दुख होरहा है वह मात्र परपदार्थके संयोगसे होरहा है। आज हम मनुष्य भवमें नहीं होते, और किसी तिर्यञ्च आदि जीवके स्वरूपमें होते, तो फिर हमारे लिए तो ये सारे यहां के समागम तो नहीं होते, उस समय हमारे ये परिचय आदि तो कुछ भी नहीं होते। अब यहाँ भी हम यह समझ सकते हैं कि हमारा यहां किसीसे परिचय नहीं है, ये सारे समागम मेरेलिए त्याज्य हैं। विषय कषाय मोह आदि भाव इन परिचयोंसे ही तो बढ़ते हैं। जितनी भी आत्मामें आकुलता पैदा होती है वह परिचयको ही पाकर होती है, इसलिए जितना भी कभी दुख होता है वह पर पदार्थके संयोगकी बुद्धि से होता है। जब तक पर पदार्थके संयोगमें बुद्धि है तब तक यह जीवन दुख स्वरूप ही हैं। परन्तु सुखस्वरूप तो सम्यक्दर्शनमें ही विद्यमान है। भरत चक्रवर्ती घर में भी रहते हुए वैरागी थे, यह उनके सम्यग्दर्शनका प्रभाव है। वस्तुकी सत्ता अनादि अनन्त अखंड स्वतःसिद्ध है। जबतक वस्तुकी स्वतन्त्र अवस्था, अपनी स्वतन्त्र सत्ता का ठीक स्वरूप जीवनमें

नहीं उतरता, तब तक जीवका मोह भाव नहीं हट सकता और दुख नहीं मिट सकता। दुखको मिटानेका सरल हल यही है कि ठीक जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसी ही श्रद्धा बनालो।

वस्तुकी सत्ता बिल्कुल स्वतन्त्र है, उस स्वरूपको समझो। ऐसा सम्यग्दर्शनका उद्यम करो। इस सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लिया तो सब कुछ पाया, यदि इसे नहीं पाया और जगतमें चाहे जितना पा लिया तो सब बेकार ही है। मानव जीवन की सफलता आत्मकल्याण से है।

एक अन्धा भिखारी था। उसने सोचाकि मैं शहरकी चहार दीवारी के सहारे सहारे चलता चलूं और जब दरवाजा आजाय तो शहरमें घुसकर भीख मांगलूं। वह चहार दीवारीके सहारे चलता गया, परन्तु ज्योंही दरवाजा आया, तो वह अपना सर खुजाने लगगया और आगे बढ़ गया। आगे बढ़ने पर उसने फिर चहार दीवारी सम्भाली तो उसे वह मिल गई और फिर उसके सहारे सहारे वह आगे बढ़ने लगा। फिर दरवाजा आया तो वह फिर अपना सर खुजाने लग गया। इस प्रकार ज्योंही दरवाजा आता तो वह अपना सर खुजाने लगजाता और उसको दरवाजेका भान ही नहीं रहता और वह आगे बढ़ जाता। तो वह शहरके अन्दर घुस नहीं सका और न भीख ही मांग सका। इसी तरह यह जीव अज्ञानका अन्धा, विषयोंका खजेला, इच्छाओंका भिखारी सुखके भरे शांति शहरमें जाना चाहता है और परपदार्थका सहारा लेता है। सहारा लेते लेते कुछ सुबुद्धि आई तो एक मनुष्य भवका दरवाजा मिला, तो वह वहाँपर ही अपने विषयकी खाज खुजाने लगता और आगे बढ़ता है तो फिर उन्हीं जातियोंमें चलता रहता है। फिर उसको मनुष्य भव मिलता तो फिर उसके वही सिरकी खाज खुजानेका काम लग जाता। तो वह कभी संसारसे मुक्ति पाही नहीं सकता। यदि अन्यत्र हर जगह देखें, हर जीवोंको देखें तो वहाँ पता लगेगा कि पशुओंमें भी विषय भोग आदि करनेमें नियम बना होता है; फिर मनुष्य भवमें क्या नियम नहीं बन सकता। रात दिन मनुष्य विषय कषायमें लगा रहता। परन्तु ऐसा

होना चाहिए कि जैसे दोपहर का भोजन १० बजे किया तो फिर ६ घंटे का त्याग कर दिया। ऐसा करने पर ६ घंटे तक तो उसकी प्रवृत्ति भोजन से हट जायगी। परन्तु जिस मनुष्यके त्याग नहीं होता, संकल्प नहीं होता, वह मनुष्य जरा चाट वाला दिखाई दिया तो चाट भी खाने लगगया, चाट खाये भी नहीं तो भी उसका मन ऐसे संस्कारमें चल रहा कि कुछ खाऊं। तो इस प्रकार उसके बन्ध होता। बन्ध संस्कारोंसे होता है।

अभी एक शंका की गई कि हम जब दुकानमें बैठे होते हैं तो उस समय तो हमें दुकानका ही ख्याल रहा करता है और जब सामायिक करते हैं तो उस समय १० बातों का ख्याल आता है, इसलिए सामायिकसे तो दुकानमें बैठा रहना अच्छा है, क्योंकि दुकानमें तो केवल एक ही बातका बन्ध होता और सामायिकमें तो १० बातोंका बन्ध होजाता। इसका उत्तर यह है कि जो तुम्हारा यह भ्रम होगया कि सामायिकमें तो १० चीजोंका ख्याल आता है, इसलिए १० चीजका बन्ध होता है और दुकान में एक ही चीजका ख्याल आता है इसलिए वहां एक ही चीजका बन्ध होता है, तो यह तुम्हारा भ्रमपूर्ण विचार है। बन्ध तो संस्कारमें ही होता है। सामायिक तो कृपा करनेवाली चीज है। वह अपने दोषोंको दिखा देती है। वह तो बतला देती है कि हमारे अन्दर इतना राग लगा हुआ है। दुकानमें तो कुछ पता ही नहीं लग सकता। सामायिकमें यह तो पता चलता कि तुम्हारे १० चीजों में राग लगा हुआ है बंध इतना सदा चल रहा है, इतना पता तो चला। अब क्या करना सो देखो तुम्हारे जिस जिसका भी ध्यान आया, तो उसमें ही अपना पूर्ण ध्यान लगादो और ऐसा ध्यान लगादो कि उसके सच्चे स्वरूपको समझ सको। इनका सच्चा स्वरूप अथवा सच्चा स्वभाव क्या है? यह सोचो कि इनका मेरे साथ क्या सम्बन्ध है? कोई सम्बन्ध नहीं। तो फिर उन रागोंसे अपने आप दिल हट जायगा। फिर तुम्हें करना क्या? बाह्य पदार्थोंसे दिल हटा कर आत्माके सच्चे रूपमें

ही रह जाना, केवल एक आत्मा केही रूप रह जाना, ऐसा करनेसे ही तो अनन्त सुख है।

परका लक्ष्य हटे तो केवलपना अपने आप आसकता है। उस आत्माको पवित्र बनालो। जैसे चौकीपर बींट पड़ी और कहते कि इसको पवित्र बनादो और पानी लेकर उस बींट को साफ कर देते। क्यों साफ कर देते? इसलिए कि वह चौकी खालिस होजाय, अकेली चौकी रह जाय। इस प्रकार चौकीकी बींट इसलिए साफ नहीं करते कि बींटको हटा दिया जाय, परन्तु इसलिए साफ करते कि वह चौकी खालिस रह जाय। खालिस चौकीको रखनेकेलिए चौकीको धो रहे हैं। यदि बींट हटाने के लिए चौकीको धो रहे हो तो फिर जहां भी वह बींट उठाकर फेंकी गई है वहां से भी उसे उठाकर फेंको, क्योंकि बींटको ही तो उठा रहे हो न। फिर जहां कहीं वह बींट गई वहांसे भी उसे उठाओ। तो फिर यही एक व्यवसाय बन जायगा कि बींट को उठाये जाओ और फेंकते जाओ। इसलिए बींटको हटानेकेलिए चौकीको नहीं धोते, वलिक चौकीको खालिस करनेकेलिए चौकीको धोते। इसी तरह परका लक्ष्य परके लक्ष्यको हटानेकेलिये नहीं हटाते, परन्तु परका लक्ष्य अपनी आत्माके शुद्ध स्वरूपके विकासके लिए हटाते।

हमारा यह जो पिंड है उसमें अनेक प्रकारके मैल आगये। उन मैलोंके कारण हम दुखी होरहे। इन सबसे न्यारा जो हमारा ज्ञान स्वभाव है हम उसे सोचेंगे तो परम सुखी होजाएंगे। सुखी होनेकेलिए हमें किसी न्यारी चीजका आलम्बन नहीं लेना है। उसका तो तरीका स्वयं अपने में ही मौजूद है। इसलिए केवल अपने इस धर्मको पालो। इस धर्मको पालनेकेलिए बहुत परिश्रमकी जरूरत नहीं पड़ती। दो पैसे कमानेमें तो बहुत कठिनाई आसकती है, परन्तु धर्मका पालन करना विल्कुल सरल है। परन्तु मोही जीवको तो पैसा कमाना बहुत आसान लगता। धर्मके पालनमें तो किसी दूसरे पदार्थके आलम्बनकी आवश्यकता ही नहीं। पैसा तो पर पदार्थ है, इसलिए उसका प्राप्त करना कठिन है, परन्तु धर्म

तो परके आलम्बनसे पैदा नहीं होता, इसलिए वह बिल्कुल सरल है।

आचार्य महाराज इस गाथामें कहते हैं कि अनन्त सुखका असली स्वरूप बताकर मैं उपसंहार करता हूँ। परन्तु ऐसा लगता कि वे वार वार वही चीज तो बतलाते हैं और फिर उपसंहार करनेकी वात ला देते। और एक वार उपसंहार करके फिर उसी वातको वतलाने लग जाते। परन्तु वात यह है कि अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुखकी वात बतानेके सिवाय आगम और शास्त्रोंमें क्या अनुत्तम वात लाई जावे? वही वारवार आचार्य महाराज भी वतलारहे हैं और श्रोतागण थक न जाएं इसलिए बीच बीचमें उपसंहार की वात कह कर उनको विश्रामसा देते हैं। यह झूंठ भी नहीं है मध्य में आनेवाले अन्तराधिकारोंका उपसंहार आवश्यक भी है।

कहते कि सुख चीज क्या है? सुख वह स्थिति है जो स्वभावके घात के अभावमें पैदा होती है। स्वभावके घात का अभाव होना ही सुख की स्थिति है और जहां स्वभावका घात होता वह स्थिति दुखकी है। आत्माका स्वभाव दर्शन और ज्ञान है और केवलीके दर्शन ज्ञानका प्रतिघात होता नहीं। उनके उनकी शुद्ध आत्माके स्वभावका घात नहीं हो सकता। त्रिलोक तक विस्तृत सारे पदार्थोंको जिसने जान लिया और अपनी स्वच्छन्दतासे जो बढ़ गया तो उसके ज्ञान की तो सीमा हो ही नहीं सकती। भगवानके राग द्वेष मोहादि भाव तो है ही नहीं तो केवलीको ऐसी स्वच्छन्दता मिली कि उनके तो स्वभावका घात होता ही नहीं और स्वभावका घात नहीं होना वही स्थिति सुख है। उसी अभेद अवस्थामें उस केवलका स्वरूप है। ज्ञानकी ऐसी स्थिति होना यही तो सुख है। इसके अलावा कोई सुख दुनियांमें नजर नहीं आ सकता। इसी अभेद अवस्थामें सौख्य है। अभी एक भाईने प्रश्न किया है कि ज्ञानकी इस वृद्धिमें स्वच्छन्दता शब्दका प्रयोग क्यों किया जारहा है? भैया जब ज्ञान पहिले समयमें तो अतिमंद था और दूसरे ही समयमें सर्व सत्का जाननेवाला होगया ऐसा बेहद बढ़ गया इस महान् तारतम्यका जो

कि एकदम होगया बताना ही स्वच्छन्दता शब्दका प्रयोजन है।

ज्ञानकी ५ अवस्थाएं या पर्यायें होती हैं। मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल। उस केवल पर्यायको अनन्त भी कहसकते हैं, परन्तु मनुष्यकी बुद्धिको अनन्तज्ञान कहकर हितपर पहुँचाना कठिन था, इसलिए उनके ज्ञानका नाम केवलज्ञान बतलाया। उनका वह केवलज्ञान केवल ही होता है, बिल्कुल शुद्ध। ऐसा शुद्ध नहीं जैसा मशीनसे क्रीम याने सार निकाला जाकर दूधको बजारमें खालिस बताया जाता है, उस तरहका खालिस नहीं परन्तु जो अपने समस्त अविभाग प्रतिच्छेदोंको सारोंको लेकरके फिर प्रगट हुआ है, ऐसा वह खालिस केवलज्ञान, वह केवल सुखपना ही है। अन्य कोई ज्ञान सुखरूप नहीं है। संसारके सुख तो मात्र अकुलता ही है लोकमें भी देखा जाता जब राग व हर्ष अधिक होता तब हार्ट फैल तक भी हो जाता।

एक साहब १०,१० रुपयेकी लाट्री लगाकर अपने भाग्यको देखा करते थे, परन्तु उनका भाग्य कभी नहीं चमका। एक दिन उन्होंने अपने नौकरसे कहा कि देख मैं तेरे नामसे लाट्री लगाता हूँ, यदि जीत होगई तो २ लाख रुपये मिलेंगे और वे तेरे हो जाएंगे। लाट्री लगाई गई और जीत भी होगई। तब वह व्यक्ति कुछ विवेकी था, उसने सोचा कि खुशीकी अवस्थामें नौकरको दो लाखका इनाम दे दिया जायगा तो वह तुरन्त हार्टफेल होकर मर जायगा, क्योंकि उसने कभी अपनी जिन्दगीमें सौ रुपये भी नहीं देखे होंगे, दो लाख देखकर तो वह अपनी खुशी बर्दाश्त नहीं करसकेगा और मर जायगा। तब उसने क्या किया कि अपने नौकर को बुलाया और उसको खूब मारने लगा, मारते मारते जब वह नौकर खूब अधमरा होगया तो उसने उससे कहा कि अरे बेवकूफ तेरी लाट्रीका फल आगया और तू जीत गया, तुझे दो लाख रुपये मिल गये, जा तू मेरी कम्पनीका उन रुपयोंमें मालिक बन गया। उस मारके दुखमें जो उसे वह खुशी हुई तो उस खुशीको वह बर्दाश्त कर गया। इस तरह उस विवेकीने उसको मरनेसे बचा लिया। उसने उसे कम्पनीका मालिक बना

दिया तो वह बोला कि मैं तो अनपढ़ हूं, मैं उसे संभालनेके लायक नहीं हूं, मैं मालिक बन गया सो तो ठीक, परन्तु आप ही इसको संभालो। तो इस प्रकार वह नौकर तो मालिक बन गया और वह मालिक उसका मैनेजर बन गया। इसमें हर्षकी आकुलता का अनुमान कराया। देखो भैया जगत विचित्र है।

जगत के जितने भी सुख हैं वे विश्रामके योग्य नहीं हैं। मनुष्य कर्मके आधीन परवश है और अन्तमें उसे मरना पड़ता है। सब कुछ जितना वह पासकना था उसने पाया, परन्तु इन सबको एक दिन छोड़कर उसे मरना होगा और नवीन भवमें पैदा होना होगा। इसलिए यहांके सारे मोहादि भावोंको छोड़ कर और अपने आपमें लक्ष्य करके आगे बढ़ो तो ही अनन्त सुखकी प्राप्ति होसकती है। इन दुनियांके सारे समागमोंसे अपना लक्ष्य हटाना चाहिए। केवलज्ञान ही एकमात्र सुख है क्योंकि उसमें सारे अनिष्ट दूर होगये और सारे इष्ट मिल गये तथा किसी भी पर पदार्थका आलम्बन नहीं करना पड़ा। केवलज्ञानकी अवस्थामें सुख होता है उसकी प्रतिपत्तिका विपक्ष जो दुख अथवा शांतिके अनुभवनका विपक्ष जो दुख होता, जिसका कारण अथवा साधन अज्ञान होता है। जब उनके अज्ञान ही नष्ट होगया तो वहां तो केवलीके सारे अनिष्ट अथवा दुख दूर होगए। उनका वह परिपूर्ण उत्पन्न हुआ ज्ञान अनन्त सुखका साधन होगया। यदि मनुष्य अपनी एक आत्माको चिदानन्द खालिस देखे और अनुभव करे कि मैं बाहरी पर्याय कुछ भी नहीं हूँ और एकबार भी स्वानुभव प्राप्त करे, पर्यायबुद्धिको दूरकरके निज शुद्ध आत्माकी बुद्धि होजाय तो जबतक उसके संसार होगा उसको अच्छा अच्छा भव मिलेगा। किसी भी एकान्तमें बैठकर यदि मनुष्य सोचे कि मैं क्या हूँ तो सबसे बादमें यही उत्तर आयेगा कि मैं यही ध्रुव आत्मस्वभावी हूं। किसीसे पूछे कि तू क्या मरना चाहता है, तो वह यही कहता कि नहीं, मैं तो ध्रुव ही रहना चाहता हूँ। तो उसे कहते कि हे आत्मन् तू मरना नहीं चाहता तो तू वही है जो ध्रुव है।

एक ही चीजको पकड़ कर बैठ जाओ तो सब कुछ मिल जायगा। जो ध्रुव नहीं सो मैं नहीं। जो विनाशिक है वह मैं नहीं हूँ। ये बाह्य समागम इसी आकारमें हमारे समीप सदा रहनेवाले हैं क्या, नहीं है। हमारा खुदका शरीर ध्रुव है क्या? नहीं, यह भी मिट जायगा। फिर कहते कि भाग्य तो हमारा ध्रुव है, तो उत्तर मिलता कि भाग्य और कर्म भी ध्रुव नहीं हैं इसलिए वह भी तू नहीं। फिर राग द्वेष मोह आदि भाव ध्रुव हैं क्या? वे भी ध्रुव नहीं, इसलिए वह भी तू नहीं, क्योंकि तू तो वह है जो ध्रुव है। यहां वह मनुष्य एकान्तमें बैठा शेखचिल्ली की तरह कल्पना और ज्ञान चलरहा है, उसकी ये कल्पना और ज्ञान भी ध्रुव नहीं इसलिए वह भी वह नहीं है। यह तो खंड ज्ञान है, यह जो सदा नहीं रहता। मझोला क्षयोपशम तो किसी आत्माके बड़ा बनते ही मिट जाता और किसी आत्माके छोटा बननेपर भी मिट जाता। केवलीके भी मिट जाता और जीवके निगोदमें जाने पर भी मिट जाता। इस तरह तो उसको भी क्षति पहुंचती। तो इसलिए यह भी तू नहीं है। तो मैं क्या हूँ? क्या केवलज्ञान मैं हूं? कहते कि अव्वल तो इस तरह का प्रश्न ही नहीं उठाना चाहिए, ऐसी चर्चा करना तो अप्रकृत है, वह प्रकरण से बाहर होती क्योंकि हम तो अपनेमें जो अभी है उसपर विचार कर रहे हैं और पूछो भी तो देखो प्रति समयमें होने वाले ज्ञानस्वभावकी जो शुद्ध तरंग है, स्वाभाविक तरंग है, वह एक समयकी तरंग भी दूसरे समयमें नहीं रहती और वह भी ध्रुव नहीं, इसलिए वह भी मैं नहीं हूँ। जहाँ नाना अवस्थाएं होती हैं तो एक चीज ऐसी भी होती है जिसकी कि वे नाना अवस्थाएं हुई हैं। इसी तरह ज्ञानकी सारी अवस्थाएं जिस स्वभावकी होती हैं वह तो मैं एक ही हूं। उस चीजको कहते कि वह एक चीज वह ज्ञानस्वभाव है जिसकी कि ये सब अवस्थाएं होती हैं। तो यह ज्ञानस्वभाव जो मेरा है, जो अनादिसे है, वह मैं हूँ।

वह ज्ञानस्वभाव केवलज्ञान से मिलकर भाईचारेकी तरह होगया, परन्तु ध्रुव तत्त्व तो ज्ञानस्वभाव ही है और केवलज्ञान उसकी पर्याय है।

इसलिए वह ज्ञान स्वभाव अनन्त भी है। वही ज्ञान स्वभाव मैं हूं, जोकि ध्रुव ही है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी मैं नहीं हूं। इस प्रकार एक केवल दृढताके साथ ज्ञान स्वभावकी भावना सदा की जाय तो वही केवल पना है और वही सुखका स्वरूप है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी सुखका स्वरूप या मार्ग नहीं है।

अब केवली भगवानके ही पारमार्थिक सुख है, अर्थात वास्तविक सुख केवली भगवानके ही ऐसी श्रद्धा करवाते हैं। ज्ञानी गुरुवों की देशनाके निमित्तसे आत्मा सम्यक्त्वको प्राप्त होता है निमित्तदृष्टिसे यह बात कही जाहीहै कि श्रीकुंदकुंददेव वास्तविक सुख की श्रद्धा करवातेहैं, धन्य वह समय जब देवके साक्षात् दर्शन होरहेथे, जिनकी परोक्ष इस वाणीसे भव्य अपना उद्धार कर रहेहैं तो जब दर्शन व वचन भी साक्षात् मिलते थे जिन्हें मिलते थे उन्होंने मोक्षपथका लाभलिया ही है। यहां आचार्य देव केवलीके ही परमार्थिक सुख है ऐसी श्रद्धा करातेहैं।

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमंति विगदघादीणं।

सुणिऊण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥६२॥

मोहनीय आदि कर्मोंके जालमें जो फंसा होता है ऐसे जीवने सुखाभासमें सुखकी ऐसी रूढि बना रखी है कि वही उसे सुख दिखाई देता है, परन्तु वह रूढि वास्तविक चीज नहीं है, क्योंकि वह स्वभावका प्रतिघात लिए होती है और आकुलताको लिए होती है। जो स्वभावका घात करनेवाली अवस्था है वह सुखका कारण नहीं। जैसे किसी बर्तनमें पानी रखा है, यदि उसमें कंकर डालदो तो उस पानीमें आकुलता पैदा होजायगी, इसी तरहसे जब भी राग द्वेषका कंकर आत्मामें पड़ता, दर्शन ज्ञान आदिकी स्थितिमें प्रतिघात होजाता है और आकुलता पैदा होजाती है, परन्तु वह स्थिति सुख नहीं। जिनके घातिया कर्म नष्ट होगये, जिनके स्वभावके घातका अभाव है, तो यही तो सुखका लक्षण है, वह केवली के है अतः केवलीमें पारमार्थिक सुख है, ऐसी श्रद्धा करना चाहिए।

एक भाई ने अभी प्रश्न किया कि यहां हमको जो सुख मालूम

पड़ता है वह दुखके कारण मालूम पड़ता है, यदि दुख नहीं होता होतानो सुख ही है ये हम कैसे मानते। ऐसी यहां शंका हुई। परन्तु बात ऐसी है कि जबतक स्वानुभव अवस्थाका अनुभव न होजाय तबतक उस सुख का अनुमान हो ही नहीं सकता। सिद्धोंकी बातको जाने दो, अपने आपमें जैसा कि आत्मस्वरूप बताया, वस्तुका स्वरूप बताया, ऐसी स्थिति करके अपने ही स्वानुभव अवस्थाको पहिचानो तो उसके वहां ऐसा प्रत्यय होजाता है कि सुख और दुखसे परे आनन्द नामकी कोई चीज है। स्वानुभवके सुखका मुकाबिला भगवानके सुखसे करना चाहिए, लौकिक सुखसे नहीं। सुखका अर्थ है, ख माने इन्द्रियां, सु माने भले प्रकारसे रहें, जहाँ इन्द्रियां भले प्रकारसे तुष्ट रहें, उस स्थितिको सुख कहते हैं तथा तथा जहां ख-इंद्रियोंको दुः-बुरा लगे वह दुःख है। इससे तो यही प्रसिद्ध हुआ कि भगवानका ज्ञान अतीन्द्रिय है और सुख भी अतीन्द्रिय है सो अतीन्द्रिय होने के कारण उसे सुख शब्दसे कहना उपयुक्त नहीं उसे आनन्द शब्दसे बताना योग्य है। परन्तु व्यवहारियोंको समझाना है सो सुख शब्द से प्रारम्भ किया जाना है।

भगवानके सुखका मुकाबिला इंद्रियसुखसे न करें। किन्तु स्वानुभव सुखसे ही भगवानके सुखका मुकाबिला भले प्रकारसे हो सकता है। जैसे किसी आदमीने दो पैसेके पेड़े खरीदकर खाये और किसी आदमीने एक रुपयेके पेड़े खरीदकर खाये, परन्तु दो पैसेके पेड़े खानेवाले को उस स्वादका अन्दाजा होता है जो एक रुपयेके पेड़े खाने वालेको प्राप्त होता है। इसी तरह सम्यक्दृष्टि स्वानुभव के पश्चात् समझता है कि जो आनन्द हमने अनुभव किया केवलीके स्वानुभवका अनुभव भी वैसा ही किन्तु पराकाष्ठाको प्राप्त होगा। इसलिए राग द्वेप आदि भावोंमें रहकर सिद्धोंके सुखका अनुभव नहीं हो सकता।

यहां यह बताया जारहा है कि इन्द्रिय सुख तो वास्तवमें दुख ही है। उसमें जो सुखकी रुढि पड़ गई यह तो बिल्कुल अपरमार्थिक ही है। भगवानका अतीन्द्रिय सुख ही पारमार्थिक और वास्तविक सुख है। जिन्हें

यह श्रद्धा नहीं है वे मोक्षमार्गसे विपरीत अवस्था बनाते हैं। वे मोक्ष सुखके अमृतपन से दूर हट कर मृगतृष्णामें जैसे मृग जलके भारको ही देखता है, वे अभव्य जीव इन्द्रियोंके सुखोंमें सुखको खोजते हैं। भगवानका अतीन्द्रिय सुख ही पारमार्थिक सुख है ऐसी जिनको श्रद्धा नहीं है वे मोक्षके अमृतपानसे दूर हैं। मोक्षकी शुरुआत चौथे गुणस्थान से होती है, जिसे कहते हैं निर्जरा वह मोक्षका आंशिक रूप है और सिद्ध अवस्था होनेतक यह निर्जरारूप मोक्ष ही चला करता है मोक्षका ही एक रूप निर्जरा है। शुरू मोक्षका भी नाम मोक्ष ही है, परन्तु जो समस्त मोक्ष होता है वही मोक्ष शब्दसे पुकारा जासकता है। इसलिए मोक्षकी शुरुआतका निर्जरा शब्दसे पुकारा गया। आत्मामें जो उन कषायोंके भावोंसे स्वरूपाचरण होता है वह मोक्षसुखके अमृतपानसे दूर हटकर मृगतृष्णासे जलके भारको जैसे मृग देखता है, अभव्य जीव इन्द्रिय सुखमें ही सुखका अनुभव करते हैं। मिथ्या दृष्टिका ऐसा ही अनुभव होता हैं। आत्माका सही अनुभव सम्यक्दृष्टिमें ही हो सकता है।

यहाँ शंका होती कि सम्यक्दृष्टिके कई प्रकारका भय रहता है तो उन्हें सम्यक्त्वका अनुभव नहीं रहता होगा। उत्तर–देखो भैया भय ८वें गुणस्थान के छठे भागतक रहता है। चौथे गुणस्थानमें सबसे ज्यादा पांचवेंमें उससे कम, इस प्रकार कम भले ही होता जाता हो और वह भी इतना कम कि बुद्धिगम्य भी नहीं रहता परन्तु भय रहता इसी स्थानतक हैं। फिरशंका होती कि भय और सम्यक्त्व दोनों एकसाथ रह कैसे सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि प्राक् पदवी में सम्यक्त्व तो सदा रहता है, परन्तु स्वानुभव सदा नहीं रहता है, स्वानुभवकी स्थितिमें भय नहीं रहता।

भय और जुगुप्सा इनका आस्रव आगममें सदा नहीं कहा गया। जैसे पूछा जाय कि चौथे गुणस्थानमें एक जीवके एकदा कितने आस्रव होते हैं तो उत्तर होगा कि अधिक से अधिक ६ और कम से कम ७। वह इस प्रकार है- अप्रत्याख्यानावरणकी १, प्रत्याख्यानावरणकी १, संज्वलन की १, हास्यादियुगलमें २, वेद १, भय व जुगुप्सा तथा योग १ इस तरह

तो ६ हुए। भय जुगुप्सा में से एक ही लो तो ८ हुए। भय व जुगुप्सा दोनों ही न लो ७ हुए। इतना ही नहीं कि भय आस्रव किसी सम्यग्दृष्टि के नहीं होता। किन्तु मिथ्यादृष्टिके भी कदाचित् भय व जुगुप्सा उदयमें नहीं होते यहां भी आस्रव एक जीवकी अपेक्षा १०-९-८-७ वताये गये हैं हां संज्ञारूपमें भय ८वें के छटे भागतक है। स्वानुभव दो प्रकारके होते हैं, स्वानुभव लब्धिरूप और स्वानुभव उपयोगरूप। स्वानुभवके उपयोगरूपमें होने पर मैथुन, आदि कोई प्रकारकी वात नहीं रह सकती। परन्तु सम्यक्दृष्टिके तो सम्यक्त्व रहते हुए भी गृहस्थावस्थामें संभावित अरूपमैथुन है, स्त्री सेवन है। वहां भी उसका स्वानुभव लब्धिरूप है, दृष्टि रूप है। उस सम्यक्दृष्टिका स्वानुभव वहां उपयोगरूप नहीं है। सम्यक्दृष्टिके भय, मैथुन आदि सम्यक्त्वके साथ रह तो सकते हैं, किन्तु स्वानुभवकी उपयोगरूपता प्राप्त होनेपर रह सकते नहीं हैं। जैसे एक आदमी अंग्रेजी और हिन्दी दोनों जानता है। जब वह हिन्दीका कोई पत्र पढ़रहा है तो उस समय हिन्दी तो उसके उपयोगरूप होती और अंग्रेजी केवल लब्धिरूप रहती। यह बात नहीं है कि उसमें अंग्रेजीकी योग्यता ही नहीं। अंग्रेजीके विषयमें योग्यता तो है, परन्तु उपयोगरूप उस कालमें हिन्दी ही रहती। उस वक्त उसे अंग्रेजीके विषयका सम्यक्त्व तो है, परन्तु उसका उपयोग नहीं है। इसी प्रकार अन्योपयोगी सम्यग्दृष्टि जीवका स्वानुभव केवल लब्धिरूप है।

यहां प्रश्न हुआ कि सम्यक्दृष्टि जीव अपने रोजगारमें, व्यापारमें विषाद आदि क्यों करता है? हाकिम नाराज होता है तो उसे विषाद क्यों होता है। क्या ऐसे सम्यक्त्व हो सकता है। इसका उत्तर देते हैं कि विषाद आदि सब कुछ होतेहुए भी वह सम्यक्दृष्टि है। जो सम्यग्दृष्टि ६ महिनेतक किसी मुर्देसे प्रेम करने वाला है, तो इन छोटे छोटे प्रश्नोंसे, इन छोटी छोटी बातोंसे उसके सम्यक्त्व न रहे यह बात नहीं हो सकती। इतना विषाद आदि होते हुए भी कुछ देर बाद ही उसका लक्ष्य स्व की ओर पहुंचता है। अप्रत्याख्यान आदि कषायोंके उदयमें उसकी विषादकी

परिणति होगई, परन्तु मिथ्यादृष्टि जैसा भाव उसके नहीं रहेगा।

यहां यह बतलाते कि इन्द्रिय सुख हेय है और अतीन्द्रिय सुख उपादेय है, ऐसी भावना जो किसीके मनमें आगई है तो वे निकट भव्य जीव हैं और जिनके ऐसी भावना आगे आवेगी, वे दूर भव्य जीव हैं। वे ही संसारसे पार हो सकते हैं जिनके कि ऐसी श्रद्धा आगई। अतीन्द्रिय सुखकी श्रद्धा करना, भगवानके स्वरूपकी श्रद्धा करना, भगवानकी भक्ति करना, ये सब एक ही चीज हैं। अतीन्द्रिय सुखकी भावना करोगे तो कर्मोंकी व्यवस्थासे जो भी क्लेश आते हैं वे सब वहां निर्जराकेलिए ही आते हैं और उनकी निर्जरासे अतीन्द्रिय सुखकी जड़ अन्दर ही अन्दर दृढ़ ही होती है।

एक आदमी भगवानका पुजारी था और उसने उनकी प्रतिमा अपने ही घरमें रख रक्खी थी। प्रति दिन ही वह बड़े भक्तिभावसे उसकी पूजा करता था। उस पुजारीकी चार आदमियोंसे लड़ाई होगई। पुजारी धनी भी था। वे चारों आदमी एक दिन डांकू बन कर उसके घरमें घुस गये कि हम तेरा धन लूटेंगे और तुझे मार डालेंगे, तब उसने जबाब दिया कि मैं मरनेको तैयार हूं, परन्तु उससे पहले मुझे एक काम कर लेने दो। मेरे मकानमें मेरे भगवानकी मूर्ति है, मरनेसे पहले मुझे उसे उसे नदीमें सिरा आने दो। उन्होंने स्वीकृति देदी और दो आदमी उसके साथ कर दिये कि कहीं वह दगा देकर भाग न जाय। नर्मदा नदी पास ही थी, इसलिए वह मूर्तिको लेकर चला और नदीके बीचमें पहुँच कर पानीमें मूर्तिको सिराते समय यह कहने लगा कि मुझे बड़ा दुख है कि मैंने जिस भगवानकी पूजा मैंने प्रति दिन की, उनको जीते जीते जी मैं नदीमें सिरा रहा हूँ, मुझे मरनेका दुख नहीं है। इतनेमें ही कहींसे अवाज आई कि हमें सिरा दो, तू तो बड़ा भाग्यशाली है। तूने अपने पूर्व भवमें इन चारों आदमियोंको मार डाला था, और उसके फलसे तुझे इन चारोंके हाथसे अलग अलग मरना था, परन्तु भगवानकी भक्तिके प्रसादसे तेरा ३ जगहका मरण तो कट गया और चारों आदमी अलग अलग न मार

कर एक ही साथ तुझे मारने को आये हैं। उनको बड़ी खुशी हुई। वह सिराने लगा तो जो दो डांकू साथ आये थे, उन्होंने भी उस आकाशवाणी को सुन लिया था, इसलिए उन्होंने सोचा कि अभी इसको मूर्ति मत वहाने दो और उससे कहा कि भाई तुम एकबार हमारे साथ चलो, हम चारों आदमी कुछ सलाह करेंगे, फिर आकर भले ही इसे वहा देना और उसको अपने साथ वापस उसके घर ले गये। वहाँ पहुँचनेपर बाकी दो डाकुओंने पूछा कि वहां क्या हुआ तो उन डाकुओंने उनको सारी बात बताई। यह सुनकर चारोंने सोचा कि भगवानने तो इसके तीन मरण काट दिये तो क्या हम इसका एक भी मरण नहीं काट सकते और उन्होंने उसे मारने और धन लूट लेजानेके बजाय उसी प्रकार छोड़ दिया और हाथ जोड़कर वे चारों चले आये इसी प्रकार आपके शुभोपयोग और पुण्य कितने ही प्रकारकी आकुलताओंको नष्ट कर देते हैं तो धर्म रूप परणति, जो कि अतीन्द्रिय परणतिका बात करती है—ऐसा क्या उस रही सही विभाव परिणतिको भी नष्ट नहीं कर सकती? बाह्यदृष्टि छोड़ कर अन्तर्दृष्टि करो वस्तुतः तो धर्म ही आकुलताको नष्ट करता है। समवशरणकी बात करतेहो तो समवशरणतो यहाँ भी है जहां आप रोज आतेहो। ठीक दृष्टि करके देखो तो दिव्यध्वनि ही यहांपर नहीं मिलेगी, और सारी चीजें यहां मिल जायगी।

ज्ञानी जीव व्यवहारका अवलम्बन नहीं करता, वह तो व्यवहारमें आता रहता है। अवलम्बन रखता है तो वह निश्चयका ही अवलम्बन रखता है। जब स्वानुभवकी अवस्था आती है तो निमित्त हटजानेकी हालतमें ही आती है। अब तक तो इस जीवने व्यवहारका आश्रय कर करके अपने आपको जो कुछ माना, वह तो किया ही किया है, परन्तु जो दृष्टि आज तक उसने नहीं पाई, उस दृष्टिका आलम्बन करना चाहिए। उस दृष्टिमें सत्यरूपसे व्यवहार भी डगमग आ जाता। इस प्रकार जो अभी अतीन्द्रिय सुखकी श्रद्धा करलें वे तो निकट भव्य जीव हैं और जो जो आगे श्रद्धा करेंगे वे दूर भव्य जीव हैं। मनुष्य भव अति दुर्लभ है।

झट आत्मस्वरूपकी ओर आवो।

अब इन्द्रियज्ञानका इन्द्रियसुखके साथ सम्बन्ध बताते हुए इन्द्रिय सुखका कुहेतु और कुफल दर्शाते हुए उपेक्षामार्गको प्रबल बनवाते हैं। जिन जीवोंके ज्ञान परोक्षज्ञान है अर्थात् इन्द्रिय और मनके निमित्तसे ज्ञान व्यक्त होता है उनके जो इन्द्रियसुख होता है वह अपरमार्थिक है, आभास है, आकुलता रूप है, इस बातका विचार करते हैं।

मणुआऽसुरामरिंदा अहिदुदुआ इंदिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥

साधारण मनुष्य व असुर व अमर आदि की तो बात ही क्या इनके व इन्द्र, चक्रवर्ती, असुरेन्द्र, देवेन्द्र आदि प्राणियोंके भी प्रत्यक्षज्ञान तो है नहीं अतः परोक्षज्ञानका आश्रय बन रहा है सो परोक्षज्ञानका आश्रय करनेवाले इन जीवोंके भी इन्द्रियोंमें मित्रता चल रही है क्योंकि इन्द्रिय परोक्षज्ञानके विकास में निमित्त हैं। वस्तुतः प्रत्यक्षज्ञान तो केवलज्ञान है। केवलज्ञान होनेसे पहिले जितनी भी प्रवृत्ति देखीजाती है वहां परोक्षज्ञान ही प्रवृत्तिका सहायक है। परोक्षज्ञान आत्मासे ही उत्पन्न होता है कहीं इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं होता किन्तु इन्द्रियवृत्ति परोक्षज्ञानमें निमित्रमात्र हैं। जैसे देखनेवाली तो आँख है देखना आँखसे होता है किन्तु जिसकी आँख कमजोर है उसको देखनेमें चश्मा निमित्तमात्र है! यह लौकिक जनोंके परिचयमें अच्छी तरहसे आया हुआ! चश्मा जड़ है काच है वह देखनेवाला नहीं है किन्तु देखने वाला नेत्र है। वस्तुतः देखनेवाला भी नेत्र नहीं है किन्तु आत्मा है परन्तु आत्मा स्वस्वरूपदृष्टिसे च्युत रहनेके कारण इतना अशक्त ऐसा देखनेवाला भी होगया है कि वह इस अवस्थामें इन्द्रियवृत्तिके निमित्तके अभावमें जान नहीं सकता है।

यहाँ कहीं इन्द्रियोंसे जानना नहीं होता है किन्तु जानना तो आत्मा से ही होता है परन्तु परोक्षज्ञानीके ज्ञानके विकासमें इन्द्रियवृत्ति

निमित्तमात्र है। सो ये परोक्षज्ञानी प्राणी इन्द्रियाभिलापाकी पीड़ासे सताये गये उस दुःखको न सहन करते हुए रम्यविषयोंमें रमण करते हैं। विषय जितने हैं वे सब जड़ हैं वे स्वयं न रम्य हैं न अरम्य हैं। विषय भूत अर्थ तो निज स्पर्श रस गंध वर्णके परिणमनसे परिणमते रहते हैं। मोही जीव ही अपनी कषायके अनुकूल पदार्थोंमें कल्पनायें करता रहता है सो विषयाभिलाषीको जो विषय विषयेच्छाके क्षणिक दूर होने रूप सुखाभासमें निमित्त है उन्हें तो रम्य समझता है और जो इच्छाके विपरीत प्रतीत होते हैं उन्हें अरम्य समझने लगता है। अपने कषायभावके कारण विषयोंके प्रेम रूप विकल्प होता है फिर उस विकल्पजन्य दुःखकी निवृत्तिके लिए उद्यम होने लगता है यह सब इन्द्रिय और मनके निमित्त से होता है सो विषयसुखके लोभियोंको विषयसुखका साधन सामग्री जो इन्द्रिय व मन है उसमें प्रीति हो ही जाती है सो इन्द्रियोंमें मित्रताको प्राप्त करनेवाले प्राणियोंको उदित मोहरूप अग्निने ग्रस लिया है सो उनमें अत्यन्त तृष्णा उत्पन्न होगई है।

जैसे अत्यन्त गरम किया हुआ लोहेका गोला ऐसा संतप्त होरहा है कि पासके पानीको शीघ्र सोख लेता है। वैसे ही इन्द्रियविषयाभिलापासे यह जीव ऐसा संत्रस्त होगया है कि उस दुःखके वेगको सहन न कर सकनेसे वह विषयविपत्तिमें गिर पड़ता है। जैसे व्याधिसे त्रस्त रोगी व्याधि का प्रतीकार करता है, इसी तरह इद्रियाभिलाषकी व्याधिवाला यह रोगी संसारी प्राणी विषयोंके भोगसे प्रतीकार करता है! इसलिए मोही परोक्ष ज्ञानी जीवोंके वास्तवमें सुख कहां है। वह तो कल्पित सुखाभास है। ऐसे सुखाभासमें ही रत होकर मोही प्राप्त हुई ज्ञानशक्तिको व्यर्थ गमा देते हैं। इन सब अनर्थोंका कारण वास्तविक तत्त्वका अपरिज्ञान है।

आत्मतत्त्व आत्मार्थानुभवगम्य है। यह आत्मपदार्थ द्रव्यमय है, द्रव्य गुणात्मक है। इन गुणोंसे पर्याय प्रकट होती है। जगतके जीवोंको इन पर्यायों का परिचय है परन्तु पर्यायोंका मूलस्रोतरूप गुणोंका परिचय

नहीं, गुणोंके अभिन्न आधारभूत द्रव्यका परिचय नहीं और द्रव्य के निर्विकल्प ज्ञानमात्र से अनुभाव्य अर्थका दर्शन नहीं है। देखो भैया! कितना कष्ट है अपने सहज स्वरूपके उपयोग द्वारा च्युत होकर लड़कता खड़कता कहां जाकर अटका है। कहां तो अर्थानुभवका सहज आनन्द और कहां पर्यायमूढताका महान् क्लेश। हे आत्मन् बहुत भटक लिए पर्यायमूढ बनकर इंद्रियोंके दास होकर विषयकी गहन अटवीमें। अब उनको अपने विकास महलमें बसो। पर्याय की मुग्धता छोड़ कर यह देखो पर्यायोंका उद्गम कहांसे हुआ? गुणोंसे। गुण क्या बिखरी वस्तु है? उनका अखण्ड एक अभिन्न पिण्ड द्रव्य सत् है। सर्व भेद विकल्पोंसे हट कर अभेदस्वरूप निज आत्मद्रव्यका अनुभव करो। इन्द्रियोंसे सुख होता है, इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है इस भ्रमको छोड़ो। तुम हो तो स्वयं सहज स्वभावसे ज्ञानमय हो आनन्दमूर्ति हो। अब इन्द्रियोंकी मित्रता छोड़कर ध्रुवमित्र आत्मतत्त्वको निरखो व अपना समय सफल करो। पर्यायोंमें दृष्टि फसाकर जीवन व्यर्थ न खोओ। यहां जो भी समागम है वह पर्यायोंका प्रसार ही तो है।

पर्याय दो प्रकार से है-१ द्रव्यपर्याय २ गुणपर्याय। द्रव्य पर्याय भी २ प्रकार की है १ स्वभावद्रव्यपर्याय २ विभावद्रव्यपर्याय। द्रव्यपर्यायका दूसरा नाम व्यञ्जन पर्याय भी है। जो प्रदेशोंका आकार होता है वह द्रव्यपर्याय कहलाता है। स्वभावद्रव्यपर्याय तो धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य व कालद्रव्यके शाश्वत रहता है। पुद्गलद्रव्यके परमाणु मात्र अवस्थामें स्वभावद्रव्यपर्याय होता है। यद्यपि वस्तुतः परमाणु ही द्रव्य है स्कंध द्रव्य नहीं परन्तु अनेक परमाणुवोंका मिलकर एक पर्याय स्कंध बनता है इस दृष्टिसे उस पर्यायसे निवृत्त करनेकेलिए परमाणु-मात्र के स्वभावद्रव्य पर्यायका कथन किया है। जीवद्रव्यमें मुक्त परमात्माके स्वभावद्रव्यपर्याय कहा है। प्राणियोंकी दृष्टि स्वभावद्रव्यपर्यायपर भी कठिनतासे पहुंचती है। यदि स्वभाव द्रव्य पर्यायपर भी दृष्टि पहुंचे तो उसे छोड़कर स्वभावदृष्टि बनानेमें कुछ सुकरता आ सकती है।

विभावद्रव्यपर्याय २ प्रकार का है। १ समानजातीयद्रव्य पर्याय, २ असमानजातीय द्रव्यपर्याय। समानजातीय द्रव्य पर्याय तो पुद्गल स्कन्धों की है क्योंकि समानजातिवाले अर्थात् पुद्गलपरमाणुवोंका मिलकर वह स्कंध पर्याय बना है। वस्तुतः तो वहां भी द्रव्य-सत् की दृष्टि से देखो तो सर्व परमाणुवोंका अपना अपना आकार अलग है फिर भी वह अतिसंघात से स्कंध बना है अतः वह समानजातीयद्रव्य पर्याय हुआ। मनुष्य नरक तिर्यञ्च देव ये सब असमानजातीयद्रव्य पर्याय हैं क्योंकि मनुष्य आदि जीव द्रव्य अनेक पुद्गल कर्मवर्गणायें अनेक नोकर्मवर्गणायें इनका पुञ्ज-आकार है। ये चेतन तथा अचेतन ऐसे असमानजातिके द्रव्योंसे यह पर्याय हुआ है। जगत्के मोही प्राणी इन्हीं पर्यायोंमें मुग्ध बन रहे हैं। जो शरीर मिला जो समागम मिला इसहीमें एकमेक बने जारहे हैं। एक मानने से कहीं वस्तुतः एक नहीं हो जाता है, केवल कल्पनासे आकुलित बने रहते हैं।

अब गुणपर्यायकी कथा सुनिये—गुणपर्याय कहते हैं गुणों की प्रतिसमयकी अवस्थावोंको। गुणपर्याय २ प्रकार के हैं १ स्वभाव गुणपर्याय, २ विभावगुणपर्याय। स्वभावगुणपर्याय तो जैसे परमात्मा प्रभु में है यथा ज्ञानका केवलज्ञानपर्याय दर्शनका केवलदर्शनपर्याय सुखका अनंत सुख शक्तिका अनंतवीर्य आदि। विभावगुण पर्याय वे हैं जो स्व पर के प्रत्ययसे उत्पन्न होते हैं इनमें तारतम्य भी अवश्य पाया जाता है। विभावगुणपर्याय जीवमें तो मतिज्ञानादि, चक्षुर्दर्शनादि, क्रोधमान माया लोभ आदि, आकुलता आदि हैं। तथा स्कंधोंमें ये सब ज्ञान में आरहे रूप विशेष काला पीला आदि, रसविशेष खट्टा मीठा आदि, गंधविशेष सुगंध दुर्गंध, स्पर्शविशेष रूखा चिकना आदि है। जगतके मोही जीव इन विभाव गुणपर्यायों में आसक्त हो रहे हैं। इन्द्रियविषयाभिलाषकी पीडासे ऐसे पीडित होगये हैं कि कल्पितविषयोंमें दीपपर पतंग (कीड़ा) की तरह गिरे जारहे हैं। अहो मोहका प्रसार देखो जहां सारका नाम भी नहीं है उसी को सार समझा जारहा है। इस सबका कारण तत्त्वके परिज्ञान श्रद्धाका अभाव है। आत्म

तत्त्वको पानेके लिये भैया ! यह उपाय करना है-कि पर्यायें जहांसे उद्भूत हुईं उनकी दृष्टि रखकर पर्यायोंको गुणोंमें विलीन कर दो और गुणोंका अभेद आधार देखकर गुणोंको द्रव्य में विलीन करदो और द्रव्यदृष्टि की ऐसी विशुद्धता बनावो कि द्रव्यका भी विकल्प टूट कर मात्र आत्मार्थानुभव रह जाय। पर्याय की मुग्धता सर्वप्रथम छोड़ ही देना चाहिये। विषयवृत्ति का मूल पर्यायमोह है और विषयप्रवृत्तिका साधन इन्द्रियज्ञान है। ये इन्द्रियवृत्तियां व्याधि है। इस व्याधिवालोंको पारमार्थिक सुख नहीं हो सकता।

अब यह बतलाया है कि इन्द्रियसुख अपारमार्थिक है। इन्द्रिय सुख अपारमार्थिक है, ऐसा यहां विचार किया है। जिन प्राणियोंके अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावपर ही लक्ष्य नहीं होता, उन प्राणियों की इन्द्रियोंसे मित्रता है। प्राणी और आत्मा शब्दमें भी फर्क होता है। जिनके प्राणोंमें राग है, उन जीवोंको प्राणी शब्दसे संबोधित किया गया और जो कुछ विवेकी होते हैं और अपने ज्ञान स्वभावके निकट पहुंचते हैं उन जीवोंको है आत्मन् इन शब्दोंसे कहते हैं। कहते कि इन प्राणियोंके प्रत्यक्ष ज्ञान तो है नहीं और उनके परोक्ष ज्ञानका ही सहारा है। परोक्ष ज्ञानकी सामग्री इन्द्रियां होती हैं। परोक्षज्ञानका सहारा लेनेवाले इन प्राणियोंके परोक्षज्ञानकी सामग्री जो इन्द्रियां हैं उनमें उनकी सदा मित्रता चलती है। जिनके इन्द्रियोंमें मित्रता आगई ऐसे उन जीवोंके उदयमें आये जो महा मोह दावानल, जो नहीं सहे जासकते, तो उस दुखको सहते सहते, व्याधियोंको प्राप्त होते २ कभी कोई स्थिति ऐसी आई कि कुछ व्याधियाँ कम हुईं या दब गईं अथवा कुछ देरकेलिए उन व्याधियोंकी दवा लगी, उस दवाका जो सुख हुआ उसमें अपनी बुद्धि रखते हैं। कहते हैं कि व्याधियोंकी दवा। दवा किसे कहते हैं ? जो रोगीके रोगको दवा देती है, जड़से नहीं मिटाती। जो रोगको जड़से नहीं निकालदे वही दवा है ! संसारी सुख, इन्द्रियोंका सुख, उन व्याधियोंके लिए उसी प्रकार की एक दवा है जो उस दुख को दबा देती है, जड़से नहीं मिटाती।

परन्तु इसके विपरीत औषधि, वह तो अमृत है और उससे रोग मूलसे नष्ट होजाता है। तृष्णासे दुःखको नहीं सह सकनेवाले प्राणीको विषयकी दवा मिली और उसके विषय राग उत्पन्न होगया, फिर क्या हुआ ? राग की तरह तो ये इन्द्रियां हुई और रोगकी दवाकी तरह यह विषय हुए। उस प्राणीके विषयोंके प्रभावसे इच्छाएं बदलती रहती हैं इसलिए उसे सुख मिलता है या सुख मालूम देता है। उस समयमें वह ऐसा समझता है कि उसे सुख हुआ। जैसे कोई कुत्ता हड्डी चबाता हो उस बीचमें कुछ खूनकी बूंद भी उसके मुंहमें आजाय तो वह यह समझता है कि इस हड्डीमें से खून आया और उसी हड्डीमें श्रद्धा करने लग जाता है और उसकी रक्षा दूसरे कुत्तेसे लड़कर भी करता है। उसी तरह मोही जीवके परपदार्थके विषयोंमें उनके सेवनमें सुखकी प्रवृत्ति होती, उसके कारण उसने यह माना कि विषयोंसे यह सुख आया, इसलिए वह भी विषयोंकी आसक्ति करता और उसके सिवाय कोई दूसरी निज चीजका आश्रय नहीं करता। इस प्रकार छद्मस्थ जीवोंके वास्तवमें सुख नहीं हो सकता। हमारे जितना इन्द्रिय सुख है वह तो मात्र दुख है। इनमें सुखकी श्रद्धा मत लाओ। इसके विपरीत जो स्वानुभवका सुख है, जो अतीन्द्रिय सुख है वह इन सुख और दुखोंसे कितना विपरीत है।

जैसे किसी रईस जागीरदारके मरने पर उसका लड़का नाबालिग रह जाता है और सरकार उस रईसकी सारी जायदाद कोर्ट कर लेती है तथा उस नाबालिग लड़केको १०० रुपये माहवार खर्चके लिए देदिया करती है और वह लड़का नाबालिग अवस्थामें सरकारके गुण गाया करता है, वही जब बड़ा होजाता है और समझ आती है कि मेरी करोड़ों की जायदाद सरकार ने कोर्ट करली तो वह सरकारपर दावा कर देता है कि मैं बालिग होगया हूँ। इसी तरहसे जिसका ज्ञान सुख कोर्ट होगया, पुन्य सरकारने उसे छीन लिया, उस नाबालिग अवस्थामें जरा पुन्य सुख मिला, जरा धन वैभव आदि लिले, तो उस पुन्य सरकारकी स्तुति करते हैं और कदाचित दुख होजाय तो कहते हैं कि कर्म फूट गये। परन्तु कर्म तो

सिद्धोंके फूटा करते हैं। तुम्हारे कर्म कहां फूट गये। यदि इस समय पुन्य कर्म नहीं रहे तो पाप कर्म तो हैं, फिर कर्म फूटा कहां। कर्म तो सिद्धोंका ही फूटा है। यदि तुम्हारे भी कर्म फूट जाते तो तुम भी सिद्ध होजाते। जैसे कि पुन्यके कारण कुछ सुख हमें मिला तो हम उस पुन्य सरकारकी स्तुति करते हैं। जब यह सम्यक्दृष्टि या वालिग होजाता है तो यह सोचता है कि मैं तो स्वभावसे ही ज्ञान सुखका पिंड हूँ। ज्ञान सुख तो मेरा स्वभाव ही है, सुखमें मेरी परणति स्वयंसे ही तो होती है, फिर संसारी सुखोंमें मेरी दृढता कैसे होगई। तो फिर क्या किया? ऐसे इस पुन्यके विरुद्ध दावा कर दिया और उससे कहा कि हे पुन्य तू मेरा साथ छोड़ दे। भेद किया कि वह सम्यग्दृष्टि होजाता। जब यह सम्यक्दृष्टि होजाता तो पुन्य सरकारको जीत लेता। वह जीव भव्य होता है और संसारसे पार हो सकता है। और जो विषय सुखोंमें सुखबुद्धि करता है और यहीं सड़ता है गलता है वह संसार क्लेश ही सहता, उसका मोक्ष-मार्ग नष्ट होजाता है।

अब श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देव सयुक्ति निर्णय देते हैं तथा मुमुक्षुवोंको पूर्ण निश्चय कराकर उपेक्षासम्बन्धी आगेके मार्ग में पहुंचनेका मौन आदेश देते हुए यह वितर्क कराते हैं, कि जहां तक ये इन्द्रियां हैं वहाँ तक दुःख होना स्वाभाविक बात है—

जेसिं विषयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं णहि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

जिनका विषयोंमें प्रेम है उनको दुःख स्वाभाविक है। यहाँ स्वाभाविकसे तात्पर्य आत्माके स्वभावसे अन्यनिमित्तनिरपेक्ष होता है यह अर्थ नहीं लेना किन्तु जो विषयोंमें प्रेम करता है अब उसे दुखी होनेके लिये कुछ प्रतीक्षा नहीं करनी है विषयराग ही दुःखको लेकर उठता है। अथवा दुःख नामकी परिणति किसी बाह्य पदार्थसे नहीं होती, आत्माके आनंदगुणके विभावपरिणमनसे ही दुःख होता है, परन्तु विभावपरिणमन

निमित्तके असद्भावमें नहीं हो सकता। जब कर्मोदयादिक बाह्य निमित्त उपस्थित हो और आत्मा विषयोंमें प्रेम करे तो अब देखलीजिये कि दुःख होना प्राकृतिक बात है या नहीं। जैसे अग्निकी यथाविधि सन्निधि प्राप्त हो वहाँ जलका गर्म होना प्राकृतिक है। इसी तरह कर्मोदयको निमित्त करके जब विषयोंमें प्रेम होना है तब दुःख होना भी प्राकृतिक है।

जिन प्राणियोंके हत्यारी ये इन्द्रियां जीवित हो रही हैं, प्रचण्ड हो रही हैं उनकी विषयों में रति होती है और उनको दुःख होना स्वाभाविक ही है। इन्द्रियोंकी उद्धततासे उन्हें तुरन्त दुःख मिल ही जाता है। उनका यह दुःख कहीं विषयभूत पदार्थोंसे नहीं हुआ है किन्तु इन्द्रियविषयाभिलाप का स्वरूप ही दुःख लिए हुए है। जिन प्राणियोंने असमानजातीयपर्याय रूप देहमें अहंबुद्धि करली है कि शरीर ही मैं हूं वे शरीरके व्यवहार में ही तो लगेंगे, जैसे कि चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वमें जिन्हें अहंपनेकी श्रद्धा हुई है वे मैं चैतन्यमात्र हूं ज्ञाताद्रष्टा रहना मेरा कार्य है इस भावनासे आत्मा के व्यवहारमें लग जाते हैं। जो शरीरमें आत्मपनेके व्यवहारसे लग जाते हैं उन्हें इन्द्रियविषयाभिलाष होना आवश्यक ही है और इन्द्रियविषयभिलाप की वेदनासे पीड़ित होकर विषयोंमें रति हो जाना स्वाभाविकी प्रेरणा है। यह प्रेरणा इन्द्रियोंके विभावके स्वभावका फल है आत्माकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति नहीं समझना। इसीलिये दुःख होना स्वाधीन हो गया। क्योंकि इन्द्रियोंको उद्धतताका स्वभावही ऐसा है। इस सारी गड़बड़ीका कारण अविद्या है। अविद्याका मूल है देहमें आत्मबुद्धि।

अहो यह आत्मा स्वयं स्वरूपसे सहज असीम ज्ञान व आनंद का घर है परन्तु इस नाथने अपनी ही अविचारतासे क्या परिस्थिति बनाली। हे आत्मन् अभी भी कुछ बिगड़ा नहीं है यह सत्स्वरूपकी स्वाभविकी व्यवस्थाका फल है। यदि परके उपयोगको छोड़कर निज सहज शुद्ध चैतन्य सामान्य स्वभावमें उपयोग देवे तो अभी ही सारी आपत्तियाँ किनारा कर जावेंगी। यह सब अपनी असावधानीका फल है कि नाना

द्रव्यपर्यायों और विविध गुणपर्यायोंमें पिस कर विषय व विह्वल होना पड़ रहा है। जीव पुद्गल दोनोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुई इन मनुष्य पशु आदि अवस्थाओंमें ही जब आत्मसंस्कार पड़ चुका तब आत्मस्वरूपकी तो संभावना तक भी में असमर्थ हो गया। इसी कारण अचेतन पदार्थों में भी तीव्र आसक्ति होगई है। शरीरकी पोषणा व विषयोंकी साधना में जो जो भी अन्य बाह्य अर्थ निमित्त पड़ रहे हैं उनमें भी आसक्ति हो गई है। इस आसक्तिके फलमें बाह्य अर्थका समागम बनाना चाहता है किन्तु किसी पर द्रव्यके विषयमें कुछ भी परिणमन कोई अन्य नहीं कर सकता है। उनका परिणमन इस आत्माके आधीन तो है नहीं अतः अनुकूल प्रतिकूल परिणमनमें नाना संकल्प विकल्पोंका क्लेश होना आपतित है ही। यह सब दुःख कहीं किसी उपाधिसे नहीं आरहा है किन्तु इन्द्रियविषयाभिलापियोंको यह दुःख इंद्रियोंके स्वभावसे स्वयं में हो रहा है इंद्रियोंसे प्रयोजन यहां भावेन्द्रिय है। भावेन्द्रियके कार्यमें द्रव्येन्द्रिय निमित्त है। यह सब दुःख उनके स्वयं ही है इसका हेतु यह है कि उनकी विषयोंमें रति देखी जाती है। यदि उन्हें दुःख न होता तो विषयविपत्तिमें क्यों गिरते ?

सुना है कि हाथी पकड़े जाते हैं गड्ढेमें गिराकर। कहीं गड्ढेमें कोई अन्य गिराता नहीं है, हाथी स्वयं ही आशावश ऐसी प्रवृत्ति करता है कि गड्ढेमें गिर पड़ता है। हाथी पकड़नेवाले लोग जंगलमें एक गड्ढे खोदते हैं उसपर एक हथिनी कागजकी बनाते हैं और एक ओर ५० हाथ दूरपर एक दौड़ता हुआ हाथी भी बनाते हैं। उस जंगलमें वनहस्ती कुट्टिनी हथिनीको, सांची हथिनी ही समझता है। यह तो हुआ उसका अज्ञान, मोह। फिर हथिनीसे रागभाव होनेके कारण वह वहां दौड़ता है यह हुआ राग। उसके जल्दीसे दौड़नेमें एक कारण और बनता है कि वह दूसरे हाथीको इस प्रकार देखता है कि वह दौड़ कर हथिनीकी ओर आरहा है, कहीं यह मेरे विषयसाधनको न विगाड़ दे इस आशयसे उस कूट हाथीपर भी (जिसे कि वह सच्चा समझ रहा है) द्वेष करता है

इसी कारण शीघ्र हथिनी के पास पहुंचता है। देखो भैया! जिसे मोह अज्ञान होता है उसे पद पद पर अज्ञान ही छाया रहता है। उस हाथी को कितना अज्ञान साथ लगा हुआ है। झूटे हाथीको हाथी समझ रहा है, झूटी हथिनीको हथिनी समझ रहा है, गड्ढेको भी साफ मैदान समझ रहा है, अपने शरीरको स्वयं आत्मा समझ रहा है, विषयकषायके भावोंको हितरूप समझ रहा है। ध्रुव निजस्वरूपका भान ही नहीं है।

हाथी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव है, पशुवोंमें सबसे प्रधान बुद्धिमान् माना गया है। इसमें वह योग्यता है कि समस्तमिथ्याभावोंको दूर करते हुए अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण परिणामों द्वारा अनंतानुबंधी कषायका विसंयोजन और दर्शनमोहनीयका उपशम करके उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेता है। यदि पहिले इसही भवमें या अन्यभवमें उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न किया हो और अब वेदकसम्यक्त्व योग्यकाल हो तो अधःकरण व अपूर्वकरण परिणाम द्वारा क्षयोपशम (वेदक) सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेता है। परन्तु देखो मोहकी लीला! सम्यक्त्वकी बात तो दूर रही, लौकिक सभ्यता व विवेक भी इसे नहीं है। हाथी मोह, राग और द्वेषवश अपनी चेष्टा करता है और वहां गड्ढेमें जाकर गिरजाता है। यह है स्पर्शनेन्द्रिजन्य विषयवासनाकी उद्धतताका फल। यदि विषयमें आसक्ति न होती तो क्यों विपत्तिमें पड़ता। दुःख हाथीको कहीं हथिनी या हाथी अथवा गड्ढा आदि किसी अन्यके कारण नहीं हुआ है। यह तो उसकी इन्द्रिय वासनाके कारण ही होना ही पड़ता है सो हुआ है। ऐसाही यहाँ कितनेक मनुष्योंमें भी पाया जाता है। मनुष्य भी तो सारा ज्ञान खोकर विषयवासना की प्रेरणामें विषयोंमें प्रवृत्त होता है। चाम हाड़वाले शरीरसे कौन सी शांति की बात निकालना चाहता है अपना वीर्य खोकर। हे आत्मन्! अपना वीर्य देखो ज्ञानदर्शनके शुद्धविकासका प्रभाव देखो। शांतिमार्गमें उत्साह बढ़ावो। विषयमार्गसे अपना घोर अहित कर डालोगे। ज्ञानमार्गसे अपना पूर्ण हित कर लोगे। विषयमार्गमें तो दोनों भवों में आपत्तियां ही हैं।

अब रसनेन्द्रियके विषयकी दशा देखो ! अपनेपर जो बीतती है वह तो अपने अनुभवमें है ही उस आपत्तिपर दृष्टि नहीं देते क्योंकि जहाँ इतना अज्ञान हो कि आकुलता-सुखाभास ही जहां सुख दीखता हो वहां सद्बोधकी कथा ही क्या ? अपनी आपत्तिपर ध्यान नहीं जाता। तो देखो इसी रोग की परकी विपदायें। मछली रसनेन्द्रियके विषयके लोभमें आकर कहांसे कहां स्थान पाती। विषयासक्तिसे पहिले वह तालावमें केलि कर रही थी अब वंशीके फंदेके पास लगे हुए मांसखंडकी ओर झुककर लोहे की फांसमें फंस रही है और उसका अंतका परिणाम क्या होगा सो प्रायः लोग जानते ही हैं। ये वधिक लोग आगमें भून डालते हैं। यहां भी तो देखो आज लोग त्राहि त्राहि मचा रहे हैं कि खर्च बहुत है क्या करें। यह सब खर्च रसनेन्द्रियके लोभसे तो हुए हैं तथा चामके शृङ्गार से। भैया ! मनुष्य भवको तो धर्मसाधन में लगाना था परन्तु मनुष्योंने किया क्या ? साधारण भोजनदानसे क्षुधा तृषाकी पीडा मेटकर धर्मसाधनमें जीवन व्यतीत करो फिर आनन्द ही आनन्द है। अन्यथा विषयाभिलाष में मरणकर पीछे पछताने तक की भी बुद्धि नहीं रहती।

और देखो तो भ्रमरकी गंधाभिलाषाको। वह शामको कमलकी गंधमें आसक्त हुआ कमलमें पहुंचता है सूर्यास्त होनेके अनन्तर कमल बंद होजाता है उस बन्द कमलमें वह या तो वायु के संचार न होनेसे वहीं स्वयं मर जाता है या अन्य कोई हाथी आदि तोड़कर उस कमलको चबा जाता है। देखो भैया ! कहनेको तो कमल एक सुन्दर वस्तु है परन्तु खतरनाक कितना है। कमलका पिता नीर (जल) भी कमलसे सम्बन्ध नहीं रखना चाहता, दूर रहता है और कमलका मित्र सूर्य कमलसे हजारों योजन दूर रहता है। परन्तु गंधलोभी यह भ्रमर-जिसमें इतनी सामर्थ्य है कि काठको भी फोड़ कर निकल जाय, कमलके नाजुक पत्तों में बंद रह कर प्राण गमा देता है। यहां भी देखो भैया गंधका कितना लोभ बना रखा है सामने टेबलपर ऊधबत्ती जलना, कानमें इत्रका फूंवा होना, कोटोंपर इत्र मसलना, मस्तकपर चंदन सेन्ट होना, गलेमें

फूलमाल होना, नासिकाके पास फूल लिये रहना कितना गजब है और देखो भैया जरा शरीरसे पसीना निकला कि सब गुड़ गोबर होगया ।

विषयोंकी वृत्तिमें दुःखही दुःख है। इससे ही अंदाज करलो यदि विषयोंमें दुःख न होता तो विषयोंसे थककर विषयको छोड़ते क्यों ? स्त्रीभोग, भोजनभोग, गंधभोग, रूपदर्शन, रागश्रवण देरतक कोई नहीं चाहता, ऊवकर उन्हें छोड़ना ही पड़ता है। भ्रमरकी भांतिही चक्षुरिन्द्रिय विषयके लोभी पतंगकी भी तो दशा देखो ! पतंग तो एकदम रूपके लोभमें दीपकपर गिर पड़ता है और मर जाता है। हरिण भी रागमें इतने अन्ध होतेहैं कि शिकारीके रागआलापके प्रेमी बनकर पास खड़े होजातेहैं और पकड़े जाते हैं। देखो विषयाभिलापका कितना क्लेश है ? रहा नहीं जाता विपत्तिमें पड़े बिना। विषयोंमें जो इतना व्यापार होता है वह बिना क्लेशका प्रयोग नहीं है। जैसे जिसे ज्वर नहीं है वह काहेको पसीना लेनेका प्रयास करेगा। जिसकी आंखोंमें रोग नहीं है वह क्यों खपड़ियोंका चूर्ण आंखमें आंजेगा ! जिसके कानमें दर्द नहीं है वह क्यों बकरेका मूत्र कानमें डालेगा। देखो न ! जबतक घाव रहता है तभी तक मलहमका उपयोग किया जाता है। घाव पूरा भरगया या जिसके घाव ही नहीं है वह क्या मलहम लगानेकी बेवकूफी करेगा ? ये सब विपत्तियां इन्द्रियोंकी उद्धततासे हैं। जिनकी इन्द्रियां विषयके अर्थ प्रबल होरही हैं उनके दुःख होना स्वाभाविकी बात है। अतः बंधुवो ! जिन इन्द्रियोंमें मित्रता बना रक्खी है वह गहरा धोखा है। इस शरीरका, इन्द्रियोंका विश्वास छोड़कर यही श्रद्धा करो कि आत्माका स्वभाव इन्द्रियरहित है, निजचैतन्यस्वरूप है। स्वभावकी उपासनासे प्रकट होनेवाला स्वभावविकासही सुखकी सच्ची भूमि है। अतः परोक्षज्ञान भी हितरूप नहीं है। अपनेको तो सामान्य प्रतिभासमय अनुभव करो। परोक्षज्ञानमें व इन्द्रियजसुखमें हितकी बुद्धिका परिहार करो। जो पराधीन है, विषम है; सान्त है उसमें हितकी कल्पना करना पागलपन है।

प्रश्न—अन्य बाह्य पदार्थ सुखके कारण हों या न हों परन्तु शरीरका

तो अतिनिकट सम्बन्ध है और देखा भी जाता है कि शरीरके स्वस्थ रहनेसे आत्माभी सुखी रहता है और शरीरकी पीड़ासे आत्माभी दुःखी रहता है। सो कमसे कम शरीर तो अवश्यही सुखका साधन होगा ? इसके उत्तरमें गाथा सूत्र कहते हैं।

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥६५॥

इन्द्रियोंकेद्वारा ग्रहण कियेगये इष्ट विषयोंको पाकर भी यह आत्मा अपने ही सुख गुणके अशुद्ध परिणमनसे परिणमता हुआ आत्मा स्वयं सुखस्वरूप होता है, देह सुखस्वरूप नहीं होता और न देहसे सुख उत्पन्न होता है।

मुक्त जीवोंके तो देह भी नहीं है वहाँ वे पूर्णसुखस्वरूपहैं इस तत्त्व को समझनेमें तो सुगमता है ही किन्तु जिन जीवोंके शरीर है और शरीर के निमित्तसे इन्द्रियविषयसेवना भी हो रहीहो तथापि यह आत्मा स्वयंके सुख गुणके परिणमनसे परिणमता है वहां देह सुखका साधन नहीं है। सुख आत्मा से ही प्रकट हुआ है। ये इन्द्रियांतो मद्यपायी पुरुषकी भांति मत्त होकर-तीव्रमोहके वश होकर विषयग्रहणमें प्रवृत्ति करती हैं वहाँ आत्मा मोहके कारण यह अनुभव करता है ये विषय मेरे लिये इष्ट हैं। इन कुसंस्कारोंके वश स्वभावविरुद्ध आचरणोंसे परिणमते हुए इस आत्माका सहज वीर्य तो रुकगया अब जो विपरीतबल मन वचन कायके अवलम्बनसे प्रकटहै उसके द्वारा योग करता है वहां भी जो सुख हुआ है सो निश्चयसे सुख गुणके परिणमनसे ही हुआ है। इस परिणमनमें जो देहीके ज्ञान, दर्शन व वीर्य प्रकटहै उसका ही सहयोग है किसी बाह्य पदार्थका सहयोग नहीं है। प्रत्येक आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख व शक्ति इन चारों गुणोंसे परिणमता है। मुक्त जीव भी इन चारों गुणोंसे परिणमते हैं वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति व अनन्तसुखरूपसे परिणमते हैं। यहाँ प्राणी एकदेशज्ञान, एकदेशदर्शन, एकदेशशक्ति व विकृतसुखसे परिणम रहे हैं।

शरीर अचेतन है वह सुखपरिणतिका उपादानकारण कभी हो ही नहीं सकता।

प्रश्न-शरीर सुखका उपादानकारण तो नहीं है किन्तु इन्द्रियोंकी वृत्तिके निमित्तसे ही तो सुख प्रकट हो रहा है सो शरीरको संभालना तो उचित ही होगा?

उत्तर-परमार्थ सुखके द्रष्टा व इच्छुकोंकी किसी भी अवस्थामें शरीरपर हितदृष्टि नहीं रहती वे तो शरीररहित स्थिति चाहते हैं। फिर भी प्राक् पदवीमें शरीरकी जो उचित संभाल होती है वह रागकी चेष्टा है उसे उचित कभी नहीं समझते। उचित तो चैतन्यस्वभावकी दृष्टि की संभाल है। शरीर समानजातीय द्रव्य पर्याय है वह अचेतन अनेक अणुवोंका पिण्ड है, आत्मा एक चेतन द्रव्य है। जिस द्रव्यमें जो गुण होते हैं उन गुणोंसे उनकी पर्याय प्रकट होती है। शरीर तो रूप रस गंध स्पर्शकी पर्याय करनेमें समर्थ है। आत्मा ज्ञान दर्शन सुख शक्ति आदि निज गुणोंके परिणमनमें समर्थ है। संसारी सुखोंके जो विषयसुख देखा जाता है वह भी उस आत्माके सुख गुणकी विकृत पर्याय है और जो दुःख देखा जाता है वह भी आत्माके सुखगुणकी विकृत पर्याय है। आत्मा विकृत पर्यायके व्ययस्वरूप स्वभावपर्यायके उत्पाद करनेमें स्वयं समर्थ है। स्वभावपर्याय निमित्तदृष्टिमें नहीं होती परदृष्टिसे मात्र विकारका ही कारण बनता है, अतः शरीर आदि सर्वपर द्रव्योंसे दृष्टि हटाकर एक चैतन्यस्वभावकी दृष्टि करो और प्रसन्न एवं आनंदपूर्ण समृद्ध रहो।

प्रश्न—मनुष्यका शरीर तो अनेक व्याधिमय है वह सुखका कारण नहीं है सो तो ठीक है परन्तु देवका शरीर तो दिव्य वैक्रियक है रोगरहित है स्फटिक समान स्वच्छ कांतिमान् है उसमें तो दुःखकी कोई बात नहीं है अतः उसेतो सुखका कारण कहो। इसके उत्तरमें भगवान् श्री कुंदकुंद प्रभु कहते हैं।

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणइ सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६६॥

यह बात पूर्णनिःसंदेह निश्चित है कि शरीर प्राणीके सुखको उत्पन्न नहीं कर सकता है वह चाहे स्वर्गमें उत्पन्न हुआ दिव्य वैक्रियक शरीरवाला भी हो। सुख तो ज्ञानका अविनाभावी है अतः ज्ञानके अनुकूल सुखका भी परिणमन होता है। शरीर तो सभी अचेतन हैं उनसे सुखके लिये क्या साधकता मिलेगी आत्मा तो निश्चयसे विषयोंके बिना स्वाभाविक शाश्वत आनन्द स्वभाव वाला है। किन्तु अनादिकालसे कर्मबन्धनवश विषयोंकी दृष्टि करके परिणाम परिणम कर सुख अथवा दुःखरूप स्वयं आत्मा होता रहता है। यहां भी देखो भैया! आत्मा अपने सुख गुणके परिणमनसे सुखी हो रहा है अथवा दुःखी हो रहा है। देवलोग भी तो संसारी विषय, कषाय व इच्छावाले होते हैं, उनकी इच्छाही स्वयं सुखाभास एवं दुःखका कारण है, शरीरादि नहीं। वैक्रियकशरीर परमाणुवोंका मिलकर एक स्कन्ध है समानजातीय द्रव्यपर्याय है अचेतन है, आत्मद्रव्यसे सर्वथा भिन्न है, दोनोंमें परस्पर अत्यन्ताभाव है।

तीन कालमें कभी भी आत्मा न तो शरीरके अंशमात्ररूप भी बनता, न कोई अणु आत्मा बन सकता। फिर कोई किसीका परिणमन करे यह स्वप्नमें भी नहीं हो सकता अर्थात् कल्पना भी नहीं की जा सकती। शरीर अपने रूप रस गंध स्पर्शके परिणमनसे परिणमता है, आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन, सुख व शक्तिके गुणके परिणमनसे परिणमता है। देव यदि मिथ्यापरिणामसे परिणाम रहे हैं तो शुद्ध स्फटिकसंकाश वैक्रियकशरीरमें भी रहते हुए घोर दुःखी है। यदि सद्दृष्टिदेव चैतन्यस्वभाव के ध्यानसे परिणाम रहेहैं तो वे सुखी कहीं देहकी शक्तिसे नहीं है किन्तु आत्मस्वभावकी उन्मुखतासे है। यदि निमित्तदृष्टि भी लो तो देवोंका शरीर सत्य आनन्दमें बाधक है। विवेकी देव मनुष्यदेहकेलिये तरसते हैं। देवशरीरमें रहकर आत्मा चतुर्थ गुणस्थानसे ऊपरका परिणाम वाला नहीं हो सकता। आजकल मुक्ति साक्षात् नहीं है अतः सम्यग्दर्शनके रहते हुए मरण होता है तो देव गतिमें ही जन्म लेता है। परन्तु देव गतिमें उत्पन्न होकर और हजार देवाङ्गनावोंका समागम पाकरभी सम्यक्त्वके प्रभावसे

सम्यग्दृष्टि खेदखिन्न नहीं होता। उन्हें कहीं वैक्रियकशरीर का सुख नहीं है, उन्हें तो आत्मध्यानसे होनेवाली निराकुलताका सुख है।

देवगतिमें जन्म शुभरागसे बंधी हुई प्रकृतियोंका विपाक है, यह कहीं अमरदशा नहीं। हां पुण्यका एक उदाहरण है। देवोंका जन्म उपपाद-शय्यापर स्वयं माता पिताके बिना होता है। उत्पन्न होनेके अनन्तर ? अंतमुहूर्तमें जो कुछ सेकिंड या मिनट प्रमाण होगा युवा हो जाते हैं अवधिज्ञानी होजाते हैं। इनकी सागरों पर्यन्त आयु होती है। जितने सागरकी आयु होती है उतने हज़ार वर्ष में क्षुधा लगती है सो शीघ्र कण्ठ से अमृत झर जाता है और क्षुधा शांत होजाती है। जितने सागरकी आयु होती है उतने पक्षों (पखवाड़े) में श्वासोच्छ्वास वे देव लेते हैं। इनका शरीर वैक्रियक होता है इस शरीरमें हड्डी रुधिर आदि नहीं है, कोई शारीरिक रोग नहीं होता। देवाङ्गनाओं सहित सुखमें अपनी आयु व्यतीत कर डालते हैं। इनमें कितने ही सम्यग्दृष्टि होते हैं वे आत्मसुखके अभिमुख होते हैं। मोह देवोंके भी पाया जाता है सो इतने सुखसम्पन्न होते हुए भी तृष्णा—लालसाके वश दुःखी रहते हैं। इनका, व सभी प्राणियोंका सुख दुख इष्ट अनिष्ट कल्पनाके आधारपर होता है सो वहां भी सुख आत्मासे ही उद्भूत है।

देवोंमें भी जातियां अनेक हैं संक्षेपरूपसे चार विभागमें कहा है— १ भवनवासी, २ व्यन्तर, ३ ज्योतिष, ४ वैमानिक। इन चारोंमें आदिके २ निकाय अर्थात् भवनवासी और व्यन्तर तो इस रत्नप्रभानामक पहिली पृथ्वीके भीतर पहिले २ खंडोंमें (खरभाग, पंकभागमें) जन्म लेते हैं और ज्योतिषी इस मध्यलोकमें ही यहाँ से ७९० योजन ऊपर तथा इतने ही करीव यथासंभव ऊपर रहते हैं। इन देवोंमें सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमें मरण कर उत्पन्न नहीं होता है। इनमें तृष्णा-ईर्ष्याका अधिक दुःख है। वैमानिक देवोंमें भी १६ स्वर्गमें तो इन्द्रकी व्यवस्था है ऊपर तक ग्रैवेयक यद्यपि अहमिन्द्र हैं तथापि सम्यग्दृष्टि होनेका नियम नहीं। यहां तक के देव मिथ्या आशयवश घोर कर्मबंध करते रह सकते हैं। नव अनुदिश व पांच

अनुत्तर इन १४ विमानोंमें सम्यग्दृष्टि ही होतेहैं सो इनके संयम नहीं होता है जिसको कि ये अन्तरंगसे चाहते हैं। देखो भैया! यदि वैक्रियक शरीर सुखका साधन होता तो भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषियोंकी प्रवृत्ति देख लो, हाय हाय मचा कर कितना प्रयत्न करते रहते हैं। वैमानिकोंमें भी प्रायःदेख लो। वस्तुतः सुख आत्माका ही है यदि वाह्य पदार्थसे सुख आना होता तो देव या यहां के धनी आदि लोग तो महा अंधेर मचा डालते। पर क्या किया जाय, सुख तो ज्ञानका अविनाभावी है अतः इन लोगोंका वश नहीं चलता। सुखपर तो अधिकार ज्ञानी जीवोंका ही है। तथा मुक्त आत्मावोंके जो अनन्त अतीन्द्रिय सुख है वहां तो आत्मा ही कारण है यह विशेषरूपसे स्पष्ट ही है, परन्तु कर्मसे आवृत संसारी मोही जीवोंका भी जो सुखाभास प्रकट है उसमें भी उनका आत्मा ही उपादान कारण है अर्थात् वे आत्माही स्वयं परिणमकर सुखरूप अथवा दुःख रूप होते हैं। इसलिये बंधुवो! अपनी किसी भी परिणतिको किसी वाह्य अर्थसे उत्पन्न हुआ मत देखो।

प्रश्न—शरीर तो आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें हैं सो अलगसे यह मालूम नहीं होता कि शरीर सुखका कारण है परन्तु भोजनादि वाह्य सामग्रियोंसे सुख हो रहा है यह तो प्रकट सबको विदित है सो देह सुखका कारण नहीं घटित होता है तो मत होओ विषयोंको तो सुख देनेका अधिकार मानना चाहिये।

उत्तर—प्रथम तो स्वरूप सत् को पहिचान करके देखो—आत्मा पृथक् सत् है, शरीर पृथक् है, अतः आत्माके परिणमनको शरीर नहीं करता, और भोजनादिक तो प्रकट अत्यन्त पृथक् पदार्थ हैं उनका भी सुखदानमें अधिकार नहीं है। शरीरकी तरह विषय भी अकिञ्चित्कर हैं। विषयोंकी अकिञ्चित्करता तो बिल्कुल ही सुगम है। इसी भावका प्रकाश करनेके लिये श्री भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य गाथासूत्र कहते हैं—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा विसया कि तत्थ कुव्वंति ॥६७॥

जैसे नक्तंचर जीवोंकी दृष्टि स्वयं तिमिरहरा है तब उन जीवों को देखनेके लिए प्रदीपप्रकाशादिकी आवश्यकता नहीं है, वहां प्रदीप अकिञ्चित्कर ही है उसी प्रकार यह आत्मा विषयरहित अमूर्त समस्त प्रदेशोंमें आह्लाद उत्पन्न करनेवाले सहज आनन्दमय स्वभाववाला है इस आनन्दके विकासकेलिये विषय अकिञ्चित्कर हैं। विषय पदार्थ तो मात्र स्वयं खुदका परिणमन करता है। मुक्ति होनेपर भी आत्मा स्वयं सुखरूप से परिणमता है और यहां संसार अवस्थामें रहने वाले जीव भी स्वयं सुखरूपसे परिणमता है। यह तो मात्र अज्ञानी जीवोंकी कल्पनामात्र है कि विषय सुखके साधन हैं। विषयभूत पदार्थ तो आत्माकेलिये अत्यन्ताभाववाले पदार्थ हैं उन्हें अपने गुणोंमें परिणमते रहनेके कार्य सतत हैं।

प्रश्न—दृष्टान्तमें नक्तंचरका दृष्टान्त दिया सो नक्तंचरको तो आवश्यकता नहीं प्रदीपप्रकाशकी यह तो ठीक है परन्तु मनुष्य आदिको तो आवश्यकता है ही इसी तरह मुक्त जीवोंको सुखकेलिये विषय पदार्थ की आवश्यकता नहीं यह तो ठीक है परन्तु संसारी जीवोंको तो सुखके लिये विषय पदार्थकी आवश्यकता तो रहेगी ही, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि विषय अकिञ्चित्कर हैं।

उत्तर-मनुष्य आदिको देखनेमें प्रकाश कुछ परिणमन नहीं करता, वहां तो देखने जानने का परिणमन आत्मा ही करता है। इसी तरह सुखस्वभावकी किसी परिणतिसे परिणमते हुए आत्माके सुखमें विषय कुछ भी नहीं करते हैं वहां भी आत्मा ही अपने सुख गुणके परिणमनसे परिणमता रहता है।

द्रव्यके सत्स्वरूपपर दृष्टि देकर यह सब निर्णय करो। निमित्त अपनी परिणति उपादानमें नहीं देता। सुख गुणके स्वभावपरिणमनके लिये तो निमित्त भी कोई नहीं होता वह तो स्वभावपरिणति-अनैमित्तिक परिणति है, परन्तु सुखगुणके विकृत परिणमनरूप वैषयिक सुख यद्यपि निमित्तकी उपस्थिति विना प्रकट नहीं होते तथापि इस निमित्त-नैमित्तिक

सम्बन्धको इतना ही समझना कि उपादानभूत यह आत्मा अपने सुख-गुणके विभाव परिणमनको विषयभूत पदार्थ की कल्पना करके कर पाता है अर्थात् निमित्तको पाकर उपादान स्वयं अपनी प्रभुतासे प्रभावको उत्पन्न करता है। संसार अवस्थामें भी यह जीव शरीरके कारण सुखी नहीं है किन्तु आनन्द गुणका परिणमन ज्ञानके अविरोधसे होता है। जब सशरीर अवस्थामें भी जीव स्वयंके परिणमनसे सुखी है तब मुक्त जीवोंके अतीन्द्रियसुखमें संदेहका स्थान ही कहां ?

भैया ! वास्तवमें तो बात यह है कि शरीर आनन्दका कारण नहीं प्रत्युत आनन्दका बाधक ही है निमित्तदृष्टिसे। निश्चयतः शरीर आत्माके किसी गुणका या किसी पर्यायका न साधक है, न बाधक है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही गुणका स्वामी है, अपने ही पर्यायका अधिकारी है। यहां दृष्टान्त लौकिक है-सिंह, सर्प, बिडाल, श्वान आदि की दृष्टि अन्धकार को हरनेवाली है तो उन्हें दीपसे कोई प्रयोजन नहीं है। वस्तुतः अन्धकार पर्याय उसी पुद्गल की है जहां अन्धकारका परिणमन है और अन्धकार का व्यय होनेके समय प्रकाश भी उस ही पुद्गलकी पर्याय है, जहां प्रकाशका परिणमन है; किसी वस्तुके अन्धकार पर्यायको नक्तंचरकी चक्षु नहीं हर सकती है। यहां दृष्टान्तका प्रयोजन यह है कि नक्तंचरके नेत्र ऐसी शक्ति रखते हैं कि विना प्रदीप आदिके निमित्त पाये भी देख सकते हैं।

आत्मा सुखस्वरूप है सो बाधक भावके अभाव होते ही आत्मा सत्य पूर्णसुखरूप परिणमता है। संसार अवस्थामें अथवा विकार अवस्थामें भी जो सुख होता है वह भी सुखशक्तिके परिणमनसे होता है स्वयंके चतुष्टयसे परिणमते हुए आत्माकी परिणतिमें विषय क्या करेंगे ? भैया आप सुखी भी अपने आप होते और जब दुःखी होते हो तो दुःखी भी अपने आप होते हो। इस लिये परपदार्थ की अकिञ्चित्करता जान परदृष्टिको छोड़ो अर्थात् विश्रामसे स्थित होजावो। यहीं अद्वैतदृष्टि होती है जिस अद्वैतदृष्टिके प्रसादसे दृष्टिसे भी अतीत दर्शन ज्ञान

का सहजपरिणमन होजावेगा।

श्रीदेवके उपदेशका तात्पर्य यह है कि जैसे सुखका कारण देह नहीं है वैसे सुखका कारण विषय भी नहीं है। यह आत्मा निश्चयसे निर्विषयसुख-स्वभाववाला है, अमूर्तिक समस्तप्रदेशोंमें एक परिणतिसे आह्लाद उत्पन्न करने वाला है। आत्माका आनन्द सहज ही है सो सुखकेलिये (आनन्दके लिये) अन्यपर उपयोग न हो। इतरके सुखप्रदत्वकी श्रद्धामें आकुल ही रहोगे अतः निश्चयनयके विषयभूत अद्वैत निजको देखो।

(प्रकाशकीय नोट–गाथा नं० ६८ के प्रवचन का नोट प्राप्त नहीं हो सका)

कल आनन्द प्रपञ्चकी समाप्ति हुई थी। ग्रन्थमें वर्णनमें समाप्ति हुई थी। कहीं अपनेमें समाप्ति न समझ लेना। यह बात अनुभव सिद्ध हो गई थी कि यह आत्मा स्वयं ज्ञान है, स्वयं सुख है, स्वयं देव है। इस लिये इस भगवान आत्माको सुखके झूंटे साधनोंसे कोई प्रयोजन नहीं है। सच्चा साधन स्वयं ही है। इस प्रकार आनन्द प्रपञ्चका वर्णन करके पुनरपि सत्य आनन्दके बाधक इन्द्रियसुख के स्वरूपके विचारको करनेसे पहिले इन्द्रियसुखके साधनके स्वरूपका उपन्यास करते हैं, वर्णन करते हैं। उपन्यास शब्द उप और नि उपसर्गपूर्वक असु क्षेपणे दिवादिगणीय असु धातुसे बना है जिसका अर्थ है पासमें सब प्रकारसे फेंक देना। पासकी चीज अत्यन्ताभाववाली होती है, जो तादात्म्य रखे वह पास नहीं किन्तु वह वही है। यहां इन्द्रियके सर्वस्वको भले प्रकार पूर्णरूपसे फेंक देनेका प्रोग्राम है, सो जिसे फेंकना है उसके साधनोंका विचार करते हैं। शत्रुके विजयके लिये शत्रुके सहायक, साधन आदिका परिज्ञान करना आवश्यक हो जाता है जिससे विजयके अनुरूप प्रोग्रामका प्रारम्भ होता है।

यहां इन्द्रियसुखके साधनोंके स्वरूपपर विचार चल रहा है—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥६९॥

अरहंत सिद्ध देव, आत्मसाधनामें प्रकर्ष सिद्ध यति, दीक्षा शिक्षा-

दायक गुरुजनोंकी पूजामें, दानमें, शीलव्रत पालनमें उपवास आदि में जो धर्मानुराग करनेवाला आत्मा है वह शुभोपयोगात्मक है।

प्रश्न—यहां इन्द्रियसुखके साधनोंपर विचार चल रहा है तब साधनकी बात न कहकर साधकको क्यों बताया गया? उत्तर निश्चयसे साधक व साधन भिन्न नहीं होते। यहां शुभोपयोगात्मक आत्माको ही तो कहा गया है, आत्माको केवलको तो नहीं कहा गया। जिसकालमें आत्मा शुभोपयोगसे परिणमता है उस कालमें वह समस्त आत्मा शुभोपयोगमय है अतः भेदविवक्षासे शुभोपयोग साधन हुआ और शुभोपयोगात्मक आत्मा साधक हुआ, परन्तु अभेदविवक्षासे शुभोपयोगात्मक आत्माही साधक हुआ और यही साधन हुआ। अभेदनयसे कहनेपर यही साध्य हुआ। भेदनयसे इन्द्रियसुख साध्य है तो शुभोपयोगसाधन है। शुभोपयोगसे तो तत्काल मानसिक सुख साध्य होता है और निमित्तोपनिमित्तकी दृष्टिसे देखें तो शुभोपयोगके निमित्तसे पुण्यकर्मका बन्ध हुआ और फिर इस पुण्यकर्मके उदयसे इन्द्रियसुख मिलता। निमित्तोपनिमित्त की दृष्टिसे शुभोपयोग भावी अन्यकालमें फल गया इस कारण इन्द्रियसुखका साधन शुभोपयोग कहा गया है।

देखो भैया! असत्यार्थकी सिद्धिकेलिये कितनी वकालतकी जरूरत हो गई है। तथा परिश्रम, अपेक्षा, व्यग्रता भी तो देखलो—हाय बड़ा कष्ट है! स्वरूपसे चिगे और क्लेश ही क्लेश है। समस्त विपदावों की भूल अपनी भूल है। लोग सुख, शान्तिके लिये कितना बाह्य व्यर्थ का परिश्रम करते हैं। शान्तिकी कुञ्जी तो अतिसुगम है, कठिनतासे मिलने वाली तो अशान्ति ही है। यहाँ इन्द्रियसुखके साधन बताये जारहे हैं सो इसमें स्वयं ही यह परीक्षा करलेना कि परावलम्बनता कितनी है? और इसमें तत्काल व इसके भावी उदयमें व्यग्रता कितनी है।

इन्द्रिय सुखका निमित्त पुण्यकर्मका उदय है व पुण्यविपाक का

नोकर्म बाह्य सामग्री है। पुण्यका उदय पुण्यकी सत्ता विना नहीं होता, पुण्यकी सत्ता बंध विना नहीं होती। पुण्यके बंधका निमित्त शुभोपयोग है, शुभोपयोगका निमित्त कषायका मंदोदय है व नोकर्म देवता, यति, गुरु, दुःखी, मुमुक्षु, तत्त्वजिज्ञासु, शुभक्रियायें आदि हैं।

जब यह आत्मा अशुभोपयोगकी भूमिकाको उल्लंघन करके देवपूजा, यतिपूजा, गुरुपूजा, वैयावृत्य, प्रायश्चित्त, दीक्षाग्रहण, व्रतपालन, धर्मोपदेश, करुणा आदिके आश्रय धर्मके अनुरागको अङ्गीकार करता है तब यह आत्मा शुभोपयोगकी द्वितीय भूमिकापर चढ़ गया समझ लीजिये। शुभोपयोग वेदनाका वेदनारूप प्रतीकार है और अशुभोपयोग भी वेदना का वेदनारूप प्रतीकार है। अशुभोपयोगका फल तो बुरा है ही परन्तु अशुभोपयोगके फलके समय भी ज्ञानी जीव अपना शान्तिमार्ग पा लेते हैं। शुभोपयोगका फल यद्यपि संपदा वगैरह इष्टसमागम, इन्द्रियसुख, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, आदि हैं तथापि अज्ञानी जीव इनके अहंकारके वेगमें बहकर अशान्तिमय दुर्गमन पा लेते हैं। वस्तुतः बतावो शुभोपयोग व अशुभोपयोग तथा इन दोनोंके फलोंमें किसको अच्छा कहा जावे। घड़े ढर्रेके व्यवहारधर्मियों द्वारा शुभोपयोगका इतना माहात्म्य फैला दिया गया है तो इसमें यह कारण हुआ कि "शुद्धोपयोगसे पहिले शुभोपयोगका होना हुआ करता है तथा शुभोपयोगके मार्गसे गुजरकर शुद्धोपयोगका मार्ग मिलता है" इस रहस्यसे तो अपरिचित थे और ज्ञानियोंके मन वचन कायकी चेष्टाको ही पकड़ लिया।

अशुभोपयोग और शुभोपयोग दोनोंकोही क्लेशरूप और क्लेशका साधन कहा गया है। अन्तर इतना है अशुभोपयोग तो तीव्र क्लेशरूप है और शुभोपयोग मंद क्लेशरूप है। अशुभोपयोग २ प्रकारसे होता है। १–द्वेषरूप, २–इन्द्रियविषयोंके अनुरागरूप। द्वेष जितना भी है वह सब अशुभोपयोग है परन्तु रागमें इन्द्रिविषय व नामवरीकी चाह आदि मानसिक विषयका अनुराग यह सब अशुभोपयोग है और परमेष्ठियोंकी पूजा, वैयावृत्य, दान, सदाचार आदि सब शुभोपयोग है। अशुभोपयोगका

फल महा दुःख है, शुभोपयोगका फल इन्द्रियसुखरूप दुःख है परन्तु अशुभ व शुभ दोनों उपयोगोंसे परे शुद्धोपयोगका फल शाश्वत सहज आनन्द है। अशुभ व शुभ दोनों उपयोग विकार हैं, शुद्धोपयोग धर्म है अविकार तत्त्व है। विकारके व्ययसे अविकारभावकी उत्पत्ति है अथवा विकारभावका व्यय ही अविकारभावका उत्पाद है। विकारसे अविकार प्रकट नहीं होता तथा अविकारी पूर्व पर्यायसे भी अविकारी उत्तरपर्यायका उत्पाद नहीं होता है। पूर्व अविकारी पर्यायके व्ययसे उत्तर अविकारी पर्यायका उत्पाद होता है अथवा पूर्व अविकारी पर्यायका व्यय उत्तर अविकारी पर्यायका उत्पाद है। इससे सिद्ध है कि शुभोपयोगसे अथवा शुभोपयोग करते करते शुद्धोपयोगपर्यायका उत्पाद नहीं होता है। अत एव च ज्ञानीकी दृष्टि शुभोपयोग करनेकी नहीं होती है फिर भी शुभोपयोग होजाता है जबतक रागप्रकृतिका विशेषोदय अथवा उदीरणा चलती है। शुभोपयोग ज्ञानीका बाह्य चिह्न है किन्तु जिस प्राणीने स्व लक्ष्य नहीं कर पाया उसके भक्ति आदि भी वस्तुतः शुभोपयोग नहीं है। शुभ उपयोग वास्तवमें वही है जिसका विषय शुद्ध बने। जिसका विषय अशुद्ध तत्त्व बने वह अशुभ उपयोग है।

सम्यग्ज्ञानके बलसे जिसने परम पारिणामिकभावरूप ध्रुव अहेतुक अनाद्यनन्त अखंड निजचैतन्यस्वभाव को अनुभवा है वे अन्तरात्मा रागोदयको निमित्त पाकर जब प्रवृत्तिमें आतेहैं तो उनकी प्रवृत्ति परमेष्ठी प्रभुकी पूजा, दान, दया, उपवास व्रताचरणरूप होती है यही शुभोपयोग है। यहां भी शुभका उपयोग नहीं है किन्तु उपयोग शुभ है। सर्वविशुद्ध अविकारी भावका उपयोग शुभ है, इसके अतिरिक्त सर्व भेद, पर्यायोंका ही लक्ष्य रह जाना अशुभ है।

अशुभोपयोगके प्रसादसे नरक, कुमानुष, तिर्यञ्चके दुःखोंकी भेंट होती है तो शुभोपयोगके प्रसादसे तृष्णाके साधनोंकी प्राप्ति होती है। यद्यपि पुण्यके उदयसे इन्द्रियसुख प्राप्त हों तो भी इन्द्रियसुखके बड़े से बड़े अधिकारी चक्री, इन्द्रको भी देखलो उन्हें भी सत्य सुख प्राप्त नहीं है

प्रत्युत क्लेशही है अन्यथा वे इष्टविषयोंमें हापड़ धूपड़ क्यों मचाते ? देखलिया ना शुभोपयोगका प्रसाद.! अहो मंदसे भी मंदराग संसारका मूल बनाये रख सकनेमें मूल जड़ होजाती, स्वभाविकसुखके दहन करनेमें चिनगारी का काम करती। अस्तु शुभोपयोग आता है और इसके फलमें इन्द्रियसुख भी प्राप्त होता है तथापि ज्ञानी जीव शुभोपयोगके कालमें भी सावधानी रखने वाला होता है और फलके कालमें भी । शुभोपयोगकी जबर्दस्ती और इसके फलको खूब तर्कित करलो ।

अब शुभोपयोगद्वारा साध्य जो इन्द्रियसुख है उसका आख्यान कल करेंगे।

(प्रकाशकीय नोट—गाथा नं० ७० का प्रवचननोट नहीं प्राप्त हो सका)

इन्द्रियसुखके साधन और स्वरूपका कल विचार चला था और यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया था कि शुभोपयोगका सामर्थ्य इन्द्रियसुख प्राप्त करानेमें विशेष अधिक है। जीव शुभोपयोगके प्रसादसे तिर्यञ्च, मनुष्य व देव इनमेंसे किसी भी गतिको प्राप्त होकर जितने काल शुभोपयोग के निमित्तसे बांधे गये कर्मोंका उदय चलता है वे नाना प्रकारके इन्द्रियसुख प्राप्त करते हैं। इन्द्रियसुख व शुभोपयोगका वर्णन करके अब आचार्यदेव इन्द्रियसुखको फैंककर दुःखकी टोकरीमें डालते हैं।

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥७१॥

इन्द्रियसुख जिन्हें प्राप्त होते हैं वे तिर्यञ्च, मनुष्य या देव हो सकते हैं उनमें भी तिर्यञ्च अल्प इन्द्रियसुखवाले होपाते हैं उनसे अधिक इन्द्रिय सुख मनुष्योंके पाया जाता है और मनुष्योंसे भी अधिक इन्द्रियसुख देवोंमें पाया जाता है। इन्द्रियसुखके अधिकारियोंमें सबसे प्रधान देव हैं। इन्द्रियसुख होनेपर भी इनकी आयु सागरों पर्यन्त होती है सो चिरकाल तक इन्द्रियसुख भोगते हैं। यह सब शुभोपयोगका प्रसाद है। देवोंकी आयु जितने सागरकी होती है उतने पखवाड़े तक तो श्वासोच्छ्वासका कष्ट नहीं

पाते और उतने हजार वर्ष बाद भूख लगती है बीचमें भूखकी वेदना भी नहीं होती। भूख लगनेपर स्वतः ही उनके कण्ठसे अमृत झर जाता है और उनकी क्षुधा शान्त होजाती है। उनका शरीर धातु उपधातुरहित, वातपित्तकफरहित, नीरोग, युवा सर्वबाधारहित होता है। इनके देवाङ्गनायें सैकड़ो हजारोंकी तादादमें होती है। देखो भैया देवोंके मनमाना तो इन्द्रियसुख है और उस सुखमें बाधा देनेवाला भी रोग भूख आदि कुछ नहीं है। कमाने धमानेका तो प्रश्न हो नहीं है। श्रृङ्गार शौक आदिके लिये वहां त्रिविध कल्पवृक्ष हैं। इच्छा होते ही अनेक भोगोपभोगसामग्री प्राप्त होजाती है। यह सब शुभोपयोगके निमित्तसे बंधे हुए पुण्यकर्मके उदयके निमित्तसे बिना श्रमके ही हो जाता है। इनकी देवियोंका यदि मरण होजाय तो यथाशीघ्र दूसरी देवी उत्पन्न होजाती है और सेकिन्डोंमें ही युवती हो जाती है। देखा ना ठाठ बाट देवोंका-मनमाना इन्द्रियसुख है। भैया इस समय पहिले भोगे हुए ठाट बाटोंको आप भूल रहे हैं। अच्छा है भूल जाना ही श्रेयस्कर है यदि इस भवके भोगोंकी चिन्तना न रक्खो। अस्तु। उक्त सारे सुख देवोंको प्राप्त हैं परन्तु भैया उनके भी वास्तवमें सच्चा स्वाभाविक सुख नहीं है।

वीतराग महर्षियोंने कदाचित् शुभोपयोगका और उसके माहात्म्य का वर्णन किया हो तो विवेकियोंको वहीं तक सुनकर नहीं रह जाना चाहिये, वहां तक आचार्योंका भाषण पूरा नहीं हुआ है आगे सुनना चाहिये तब उनकी शुभोपयोगकी प्रशंसा करने व पुण्यकी प्रशंसा करनेका यथार्थ मतलब समझमें आजायगा। उनका प्रयोजन यही है कि इतना बड़ा ठाठ पाकर भी जीवका उसमें व उसके भोगमें लेश भी हित नहीं है। लोग शुभोपयोगको ललचाकर न रहजायें अपने जीवनका संभावित साफल्य न खो बैठें इसलिये शुभोपयोग की महत्ता बताकर उससे भी अनन्तगुणी महत्ता और वास्तविकता जिसकी है उसका वर्णन करते हैं।

भैया एक चतुर वकील था उसने एक मुवक्किलका मुकदमा

लेलिया। उसकी बहसमें वह वकील अपने खिलाफ ही बोलता गया बीचमें आधा घण्टा रेस्ट की छुट्टी हुई तब मुवक्कल बोला कि वकील सा० अब तो हमारी हार ही होगी आपने तो अपने खिलाफ ही सारी बहस कर डालीं। वकील कहता है घबड़ावो नहीं, सब ठीक हो जावेगा। रेस्ट के बाद फिर बहस शुरु हुई तो वकील कहता है कि अबतक तो हमने वे सब दलील दी हैं जिन्हें हमारा विरुद्ध मुवक्कल या वकील कह सकताथा अब उन दलीलोंका खंडन सुनिये, पूर्वकी सब दलीलें थोथी और निराधार है। यह कहकर वकीलने सबका खंडन करके अपनी विजय प्राप्त करली। हमारे आराध्य गुरुदेव भी इसी शैलीसे शुभोपयोग व इन्द्रियसुखका वर्णन करगये, अब उस वर्णनके पश्चात् कह रहेहैं कि वह सब तो पर्यायमूढ बहिरात्मावोंके द्वारा मूर्खतावश मानाहुआ सुख था, वास्तवमें तो इन्द्रियसुख के नाटक करनेवाले पात्रोंमें से मुख्य पात्र देव भी महादुखी हैं। देवोंके भी स्वाभाविक सुख नहीं है प्रत्युत अज्ञानकी इस परिस्थितिमें उनको दुःख होना स्वाभाविक बन गया है, क्योंकि यदि देव दुःखी न होते तो वे कल्पित मनोज्ञविषयोंमें क्यों गिरते। देवियोंको मनाना, मनमें नाना कल्पनायें करना, लोकमें यथाशक्ति चारों ओर दौड़धूप करना, महा देवोंकी विभूति देखकर मनमें संक्लेश ईर्ष्या करना, उनकी आज्ञामें रहनेका कष्ट भोगना, सुन्दर सुन्दर आवासोंमें क्रीडाके लिये हापटा मारना, छोटे देवोंको आज्ञा देकर अहंकार, कर्तृत्वके घोर अन्धकारमें बरबाद होना ये सब क्या दुःख नहीं है। दृष्टि जमाकर देखो तो कभी यह कह बैठोगे कि अरे ये नारकियोंसे भी अधिक दुखी हैं।

भैया वास्तविकतासे देखो तो अज्ञानी देव दुःखी है और ज्ञानी नारकी सुखी है। सुखपर्याय सुखगुणसे व्यक्त होती है। किसी द्रव्यके गुणकी पर्यायको अन्य अनन्तानन्त द्रव्य मिलकर भी नहीं करसकते हैं। यही वस्तुकी प्राकृतिकता है, सही मार्ग है। आत्माके अभेद स्वभावका स्पर्श ही आनन्दका कारण है अन्य सब धोका है। यथार्थ निर्विकल्प आनन्द तो अनादि अनन्त अहेतुक अखंड निर्विकल्प ध्रुव निज स्वभावको

उपादान (ग्रहण) करके प्रकट होता है। जिस दृष्टिका विषय क्षणिक हैं उस दृष्टिके परिवर्तन होते हैं और उस परिवर्तनमें आत्माको अनाकुलता प्राप्त होती नहीं है। वल्कि शुभोपयोगका जिनपर प्रसाद होगया है उनकी दशा यदि भगवती प्रज्ञकी सुदृष्टि नहीं मिली तो वड़ी दयनीय हैं।

देव पञ्चेन्द्रिय, चारों संज्ञावाले, असंयमी होते हैं उनमें सव लोकान्तिक व सव अनुदिश अनुत्तर विमानवाले तथा अन्य अहमिन्द्र आदि कुछ देव ऐसे हैं जो भगवती प्रज्ञाकी भक्तिमें रहते हैं। अन्य तो सभी पञ्चेन्द्रियात्मक शरीररूपी पिशाचकी पीडासे परवश होते हुए मनोज्ञविषयों में गिर पड़ते हैं।

इन्द्रियसुखका लोभी यह संसारी प्राणी संसारविषवृक्षसे गिरते हुए मधुविन्दुके लोभीकी तरह मूर्ख वन रहा है। एक चित्र आता है जिसमें दिखाया गया है कि एक पुरुषके पीछे एक हाथी लग गया वह हाथीके भयसे जोरसे भागा तो उसे वचनेका कोई उपाय न दीखा केवल यह ही दीख पड़ा कि सामने एक वड़का पेड़ है जिससे कुछ झालें नीचे लटक रही हैं। उन झालोंको पकड़कर पेड़पर चढ़ जाना चाहिये। उस पथिकने वे झालें पकड़ीं तो वह पासमें जो कुआ था उसके ऊपर लटकगया, ऊपर मधुका छत्ता था उसमेंसे कुछ बूंदें मुसाफिरके मुंहपर पड़ीं तो मधुविन्दुमें आसक्त होकर मुंह ऊपर कर लटका रहा। वहां उसके नीचे कुआ था उसमें पांच अजगर थे वे मुंह फाड़कर ग्रसने को तैयार होगये। वह पथिक अव सव दुख भूलगया। नीचे सांप हैं, कुआहै। हाथी उस पेड़को उखाड़ कर फैंक रहा है। जिस डालकी झालोंपर झूम रहाहै उस डालको दो चूहे काट रहे हैं, मधुमक्खियां उस पथिकके अंगपर चिंपट रही हैं। इतनी विपदावोंका प्रसंग होनेपर भी वह पथिक मधुविन्दुस्वादके लोभमेंही फंस गया। वहाँ कोई विद्याधर आता है तो उसे वड़ी विपदामें देखकर समझाता है कि यहांसे चलो हमारे विमानमें वैठकर अच्छे स्थानपर विश्राम करो। परन्तु वह पथिक कहता है कि ऊपरसे यह बूंद आ रही है इसका स्वाद और लेलूं।

देखो भैया कितना गजब है, अपने अपने आपपर कितना अन्याय है। मोही जीव भी अनेक आपदावोंसे घिरा हुआ है-आयुक्षयरूप यम इसके पीछे लग रहा है, चारों गतिके चार सर्प और निगोदवासका महा अजगर मुंहफाड़े तैयार रहते हैं, रात दिवसके दोनों चूहे आयुका छेदन कर रहे हैं परिवार बन्धु मित्र इसके चारों ओर चिपट रहे हैं इतना तो विपदाका प्रसंग है, परन्तु यह मोही सब विपदावोंको भूलकर विषयसुखमें ही लीन हो गया। सुयोगवश ज्ञानी गुरु भी समझानेको मिल जांय तो वहां भी यह कहता है सोचता है कि अभी यह सुख और भोग लूं, पुत्र की शादी करलूं पोतेको पढ़ा लिखा लूं आदि आदि विकल्पोंमें जीवन बरबाद कर देता है। अहो बड़ा कष्ट है अत्यन्ताभाववाले पदार्थोंमें कितनी ममता लगा ली है। निज स्वतन्त्रस्वरूपको नहीं पहिचानता और दुखी होता है।

देख लिया भैया! शुभोपयोगका प्रसाद। परमतत्त्वका लक्ष्य करनेवाले ज्ञानियोंके जब तक राग है शुभोपयोग होता है। परन्तु अज्ञानी तो इसमें ही अपना हित समझकर शुभोपयोग करनेका यत्न करता है सो होता क्या है जैसा अन्तरंग है वैसा उपयोग होजाता है अर्थात् अशुभोपयोग होजाता है। रागमात्र सब हेय है। आत्माका स्वभाव अविकारी है उसके लक्ष्यसे अविकारी पर्यायका प्रवाह आता है। किसी भी परके लक्ष्यसे और निजके पर्याय अथवा भेदके लक्ष्यसे अविकारी पर्याय प्रकट नहीं होती। अतः समस्त भेदोंसे परे निर्विकल्प त्रैकालिक अखंड निज ध्रुव स्वभावको पहिचानो फिर अशुभोपयोगका निशान न रहेगा और जो शुभोपयोग होताहो सो होवो परन्तु श्रद्धा अविचलित रहना चाहिये कि राग मात्र अहित है, अध्रुवसे क्या प्रीति करना? मैं तो ध्रुव चैतन्यस्वभावी हूं इसही अखंड चैतन्यस्वभाव का लक्ष्य हितकारी है। यहां भी जो लक्ष्य करनाहै वह शुभोपयोग है, सो लक्ष्य हितकारी नहीं है किन्तु उसके लक्ष्यमें लक्ष्यसे तो नहीं परन्तु योग्यतासे सहज धर्मभाव प्रकट होता है। राग तो आग है। जैसे आग कपड़ेमें लगी हो तो दाह पहुंचाता है और शीतल

चंदनमें लगी हो तो वह भी दाह पहुंचाता है। इसी तरह अशुभोपयोग सम्बन्धी राग तो नरकादिदुःखरूप दाह तो पहुंचाता ही है किन्तु शुभोपयोग सम्बन्धी राग भी स्वर्गीय विषयविषवृक्षका फल चखा देता है वहां लोभी बन कर सम्यक्त्वको गांठसे खोकर एकेन्द्रिय तकका जन्म पासकता है। अज्ञानियोंको तो शुरू व अन्त सभी एकसा ही है किन्तु ज्ञानियोंको भी सम्पदा भोग विचलित करनेमें निमित्त होजाते हैं। अतः एक शुद्धोपयोग का आदर करो अन्य व्यग्रता छोड़ो।

(प्रकाशकीय नोट—७२–७३–७४–७५–७६ नं० की गाथाओंके प्रवचनके नोट प्राप्त नहीं हुए)

अब तक शुभोपयोग, अशुभोपयोग; पुण्य, पाप; तथा सुख, दुःखका जो वर्णन किया उन परस्पर युगलमें कोई विशेषता नहीं है ऐसा निश्चय करते हुए उपसंहार करते हैं।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥७७॥

शुभोपयोग, अशुभोपयोगमें, सुख दुःखमें, पुण्य पापमें, परस्पर वाञ्छनीय फर्क नहीं है इस प्रकार जो प्राणी नहीं मानता है वह मोहसे दबकर घोर संसारमें डोलता रहता है। कषायके मंद उदयके निमित्तसे होने वाले विकारका नाम शुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि शुभोपयोग नैमित्तिक है। कषायके तीव्र उदयके निमित्तसे होने वाले विकारका नाम अशुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि अशुभोपयोग नैमित्तिक है। स्त्री पुत्र मित्र शत्रु, प्रतिष्ठा आदिका आश्रय (विषय) करके होनेवाले विकारका नाम अशुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि अशुभोपयोग पराश्रयज है। देवता, यति, गुरु, धर्मात्मा, दुःखी आदि का आश्रय (विषय) करके होनेवाले विकारका नाम शुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि शुभोपयोग पराश्रयज है। सदा एकसा न रहनेवाला, अनुरागकी अनेक डिगरियोंमें डोलनेवाला विकार शुभोपयोग भी है और अशुभोपयोग भी, अतः दोनों

आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि वे विषम हैं। अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तनकर सहित होनेवाले विकारका नाम शुभोपयोग और अशुभोपयोग है वे दोनों आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि वे दोनों अनियत हैं। आत्माके सहजस्वभावके स्वाभाविक विकासके प्रतिकूल होनेवाले विकार शुभोपयोग और अशुभोपयोग हैं, वे दोनों आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि स्वभावके प्रतिकूल होनेसे ये दोनों उपयोग आपवादिक विशिष्ट परिणाम हैं। प्रकृतिके उदयके बिना नहीं होसकनेवाले ये विकार शुभोपयोग व अशुभोपयोग है, यह आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि इनका केवल आत्मा स्वामी नहीं है अतः संयोगी भाव हैं। ज्ञाता द्रष्टा रहनेके अभावके प्रतिफलस्वरूप कलुषताकी रचनासे होनेवाला विकार शुभोपयोग और अशुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि ये कलुषतासे रचेगये होनेके कारण अशुचि हैं। स्वभावसे न होकर पूर्वमलिनताके उपादान एवं प्रकृति के निमित्तको पाकर उत्पन्न होनेवाला विकार शुभोपयोग व अशुभोपयोग है वह आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि यह आत्माका आत्मा नहीं है किन्तु जीवनिबद्ध हैं और आत्माके स्वभावको घात करनेको इनकी प्रकृति है। आकुलताके कारण आकुलित प्रवृत्ति रूप होनेवाला विकार शुभोपयोग व अशुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि ये उपयोग स्वयं दुःखस्वरूप हैं, दुःखके क्षणिक प्रतीकार मात्र हैं। कर्मके उदयकालमें होकर उदय टलनेपर नष्ट होजानेवाला विकार शुभोपयोग व अशुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि अपने क्षणके बाद नष्ट होनेवाले ये खुदको ही बचासकनेवाले नहीं है और न आत्माको बचा सकनेवाले हैं अतः अशरण हैं। आगामीकालके लिये दुःखका आकुलताका बीज बो देनेवाला विकार ही तो शुभोपयोग व अशुभोपयोग है वह आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि इनका फल भी दुःख है।

शुभोपयोग व अशुभोपयोगमें अन्य भी अनेक कारणोंसे—युक्तियोंसे यह निःसंदेह सिद्ध है कि ये दोनों समान हैं अर्थात् अशुद्ध हैं, विकार हैं। किन्तु शुद्धोपयोग कार्यधर्म है क्योंकि शुद्धोपयोग किसी निमित्त को पाकर

उत्पन्न नहीं होता है इसलिये अनैमित्तिक है, स्वतःसिद्ध होनेसे स्वाभाविक है, समस्त परिणमन समान होनेसे सम है, स्व के ही आश्रयसे स्वरूप रखनेसे स्वाश्रित है, समान परिणमनके विरुद्ध अन्य परिणमनकी संभावना न होनेसे नियत है, सामान्यस्वभावके अनुरूप परिणमन होनेसे अविशिष्ट है, किसी परद्रव्यके संपर्कमें न होनेसे असंयोगी भाव है, स्वभावसे ही उत्पन्न होनेसे आनन्दस्वरूप है, कलुषता रहित होनेसे अत्यन्तपवित्र है, शाश्वत आनन्दका कारण होनेसे व धाराका परिवर्तन न होनेसे शरणरूप है। इत्यादि स्वलक्षणोंसे देखलो भैया! शुद्धोपयोग ही उपादेय है। यहां भी उपादेयका जो विकल्प है वह शुभोपयोग है यह विकल्प हितरूप नहीं है।

शुद्धोपयोग तो आत्माका कार्यधर्म है। कारणधर्म तो अनादि, अनन्त, अखण्ड, एकरूप, नियत, सामान्यरूप, स्वतःशुचि, सहजज्ञान आनन्द आदिके अभेदस्वरूप चैतन्यस्वभाव है, इसकी दृष्टि होनेपर कार्यधर्मका प्रवाह चल उठता है।

जिनकी शुभोपयोगमें रुचि है अथवा शुभोपयोग करते हुए परलक्ष्यमें ही वृत्ति है उनकी विकारमें रुचि है और जिनकी विकार में रुचि है उनकी संसारमें रुचि है, जिनकी संसारमें रुचि है उनका संसारगर्तमें ही भ्रमण रहेगा; क्योंकि यह आत्मा प्रभु है उसके लिये यह कठिन बात नहीं किन्तु सरल अथवा प्राकृतिक है कि जैसी रुचि करे तैसा बन जाय।

देखो भैया खूब निश्चय करलो शुभोपयोग और अशुभोपयोगकी अशुद्धताका। यदि कुछ कसर हो तो और विचार करें। नहीं रही कसर! तो अच्छा अब उसी किस्म की आगेकी बात सुनो—शुभोपयोग जब हुआ तब उसी समय पुण्यकर्मका बंध होगया, यदि अशुभोपयोग करे तब ... बतावो ... हाँ सीधीसी बात है—पापकर्मका बंध होगया। यहां यह भाव न लाना कि अशुभोपयोगने पुण्यकर्मका बंध कर दिया और अशुभोपयोग ने पापकर्मका बंध कर दिया। शुभोपयोग आदि चारों पर्यायें हैं। शुभोपयोग व अशुभोपयोग तो जीव द्रव्यकी पर्याय है और पुण्य पापकर्म

पुद्‌गल द्रव्यकी पर्याय है। एकद्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्याय नहीं कर सकता और कोई एक पर्याय किसी दूसरी पर्यायको उत्पन्न नहीं कर सकता। परन्तु यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है–जब शुभोपयोगरूप पर्याय आत्मामें होती है तब कर्मवर्गणावोंमें पुण्यप्रकृतिरूप पर्याय होजाती है और जब जीवमें अशुभोपयोग पर्याय होती है तब कर्मवर्गणावोंमें पापप्रकृतिरूप पर्याय होजाता है। अस्तु। अब प्रकृत बातपर आइये।

देखिये भैया! चाहे पुण्यकर्म हो या पापकर्म दोनों समान हैं, उनमें यह छटनी मत करो कि पुण्यकर्म आत्माका भला करदेगा। क्या करें। ज्ञानीके सातिशय पुण्यकर्म आया करते हैं और यह बात तभी है जब कि वह पुण्य चाहता नहीं है। यदि पुण्य चाहने लगे तो तभीसे सारा पटला बदल जाय -क्या क्या होजाय-मिथ्यात्व आजाय–अशुभोपयोग होजाय–पापकर्म बंधजाय–महासंक्लेशहोजाय। पुण्यकर्म और पापकर्म निश्चयतः दोनों समान हैं। द्रव्यकर्म की अपेक्षा देखो तो दोनों अचेतन प्रकृति हैं। भावकर्म की अपेक्षा देखो तो शुभपरिणाम और अशुभ परिणाम दोनों अज्ञानरूप हैं। फलकी अपेक्षा देखो तो दोनोंका फल अध्यवसान है। और देखो भैया पुण्यकर्मबंधगया तो अब क्या मिलेगा बतावो–दो एक हजार देवाङ्गनायें, सो क्या होगा यहाँ तो एक स्त्रीके कारण चैनोंमें बाल रहना कठिन होरहा है वहां क्या होगा? मनाते फिरो और करते रहो विकल्प। पुण्यके उदयसे मनुष्य हुए तो वह पुण्य क्या करेगा? उसके विपाककालमें मानो २–४ करोड़की सम्पदा मिल गई तो क्या होगा? उसमें रमगये तो नर्कवास।

पुण्यकर्म हो अथवा पापकर्म हो दोनों बंधन हैं बेड़ियाँ हैं। सोने की बेड़ी हो तो वह भी कष्टके लिये है, यदि लोहेकी बेड़ी हो तो वह भी कष्टके लिये है। यह मुग्धप्राणियोंकी कल्पना है कि पुण्यकर्म भला है। पुण्यका कैसा ही उदय हो अथवा पुण्यभावकर्म किये जारहे हों वहाँ पुण्यसे तो आत्माका घात समझना। हां यदि लाभ भी हो रहा है तो वह कारणसमयसारकी दृष्टिका फल जानना। व्रत नियम तपोंको भी

धारण करे यदि पारिणामिक भावका परिचय नहीं है तो वह दुःखसे मुक्त होनेका पात्र नहीं है। उन क्रियावोंके आश्रयसे परिणामोंमें कुछ विशुद्धि हुई तो उसके निमित्तसे पुण्यकर्म बंध जाता। उस पुण्यके उदयमें क्या मिलेगा ? इन्द्रियसुख-बेवकूफीकी चाल। उस इन्द्रियसुखकी कहानी पहिले होचुकी पुनरपि संक्षेपसे विचारलो-वह इन्द्रियसुख पराधीन, अनेक बाधावोंसे सहित, नष्ट होजानेवाला, बन्धका कारण और विषम है। ऐसा सुख क्या सुख है वह तो दुःखही है। तो अब बतलावो भैया ! पुण्यसे क्या मिला ? दुःख। अब पुण्य दुःखका साधन रहा या आनन्द का ? दुःखका रहा। तब जैसे पाप दुःखका कारण है, वैसे पुण्य भी दुःख का कारण है। इस तरह पापसे पुण्यमें क्या महत्त्वसाधक विशेषता आई ? नहीं आई ना। बस इसी कारण तो पुण्य और पाप समान होगये। पुण्य पापसे रहित निर्विकार शुद्धोपयोग ही आत्माको वास्तवमें शरण है।

इसी प्रकार सुख दुःख भी समानही हैं क्योंकि पराधीन इन्द्रियसुख दुःखही है। आत्मीय शाश्वत स्वाधीन आनन्द ही वास्तविक आनन्द है। इस तरह शुभोपयोग, अशुभोपयोग; पुण्य, पाप; सुख, दुःख; ये सब सब बराबर हैं इनसे आत्महित नहीं है। फिर भी जो प्राणी पुण्यको व शुभोपयोगको व इन्द्रियसुखको विशेष मानकर अहंकार करे और इसी कारण अहमिन्द्र आदि बड़ी संपदाओंके कारणभूत धर्मानुरागरूप शुभोपयोगकी हठ करे तो संसारपर्यन्त शारीरिक दुःखका ही अनुभव करेगा क्योंकि उसका उपयोग अशुद्ध है इसी कारण शुद्धोपयोगका तिरस्कार कर दिया है।

भैया ! शांति धर्मसे आती है, धर्म आत्मस्वभावके लक्ष्य होनेपर सहज प्रकट होगा, अतः मनुष्यजीवनको सफल करें। निर्ममत्व बढ़ाकर अपने स्वभावकी ओर रहकर। ऐसा जिन्होंने किया वे सुखी होगये, जो कररहे हैं वे सुखी होरहे हैं, जो करेंगे वे सुखी होंगे।

कर्तव्य एक यही है-शुभोपयोग व अशुभोपयोग दोनोंमें अविशेषता

देखकर इनसे मुड़ते हुए वस्तुस्वरूपको पहिचानो। मैं निज चैतन्यस्वरूपःमात्र हूं ऐसी प्रतीति करके समस्त द्रव्य पर्यायोंमें राग द्वेषको छोड़ो, अपनेको एक यह शुद्धोपयोग ही शरण है।

(प्रकाशकीय नोट—७८—७९ गाथाके प्रवचनोंके नोट नहीं प्राप्त हो सके),

कल यह प्रकरण था कि जो जीव अहिंसात्मक परमसामायिक चारित्रकी प्रतिज्ञा करके भी शुभोपयोगकी वृत्तिरूप अभिसारिकासे ठगाया हुआ मोह व अज्ञानको नहीं छोड़े तो वह बड़े दुःख—संकटोंमें घिर जायगा फिर कैसे वह आत्माकी उपलब्धि करेगा? यह बात अपने आपके सम्बन्धमें भी विचारो। सो अब भैया मोहकी सेनाको जीतनेके लिये कमर कस ही लो।

अब कहते हैं कि मेरे द्वारा मोहसेना कैसे जीती जायगी उस उपायकी आलोचना करते हैं अर्थात् मोहविजयके उपायभूत तत्वज्ञानको अपनेमें चारों ओर देखकर जिज्ञासुके प्रति कहते हैं—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।८०।

जो अरहंतदेवको द्रव्यत्व गुणत्व पर्यायत्व इन तत्त्वोंसे जानता है वह निज आत्माको जानता है क्योंकि निश्चयदृष्टिसे शुद्ध आत्मामें और निजमें अन्तर नहीं है। निरुपधि स्वतन्त्र निज आत्मतत्त्वको पहिचानने वाले अन्तरात्माके मोह लयको प्राप्त होता है। शुद्ध आत्माके स्वरूपमें और निज आत्माके स्वभावमें अन्तर न होनेसे शुद्ध आत्माकी पहिचानसे जैसे निज आत्माकी पहिचान होती है वैसे ही निज आत्मस्वभावकी पहिचानसे शुद्ध आत्माकी पहिचान होती है। तथा स्पष्टतया निज आत्मस्वभावकी पहिचानके बलसे, शुद्ध आत्माकी पहिचान स्पष्ट होती है। शुद्ध आत्माके परिज्ञानके समय भी निज आत्माके ज्ञान गुणकी परिणतिका ही अनुभव है। अतः यद्यपि तत्त्वतःनिज आत्माके स्वभावकी परखसे शुद्धात्माकी परख हुई है तथापि उसका विषय प्रथम शुद्धात्मारूप परपदार्थ होनेसे संस्कारवश यही उपाय प्रथम आता है कि जो अरहंतको

द्रव्यत्व गुणत्व पर्यायत्वसे जानता है वह आत्माको जानता है।

अब द्रव्यत्व, गुण व पर्यायसे अरहंतका क्या स्वरूप है इसका वर्णन करते हैं। प्रथम यह जान लेना चाहिये कि द्रव्य, गुण, पदार्थ क्या हैं? जो अन्वयस्वरूप है तीनों कालोंमें प्रत्येक परिणमनोंमें जिसका प्रवाह है ऐसा अखंड एक वस्तु द्रव्य है और उस अन्वयीके विशेषण (शक्तियां) गुण हैं और द्रव्यकी प्रतिसमयकी दशामें पर्याय हैं। अब भगवान अर्हन्त में (जो कि द्रव्यसे गुणसे और पर्यायसे सभी दृष्टियोंसे शुद्ध हैं) द्रव्यत्व, गुण व पर्यायको देखते हैं—यह चेतन है यह चेतन है इस प्रकार जिस एकका अन्वय है वह द्रव्य है। और जो अन्वयिस्वरूप चेतन द्रव्य है उसके आश्रित जो विशेषण हैं चैतन्य है वह गुण है। यह गुण सर्वगुणोंमें प्रधान अर्थात् द्रव्यकी विशिष्ट स्वरूप सत्ताका मूल होनेसे प्रधानदृष्टिसे विवेचित है विशेषतया तो चेतन द्रव्यमें अस्तित्व वस्तुत्व आदि अनेक सामान्यगुण एवं चेतनत्व अमूर्तत्व आदि अनेक विशेषगुण हैं। तथा पर्याय एक एक समय मात्र जिनका काल सुनिश्चित है अत एव जो परस्पर एक दूसरेसे भिन्न हैं, चेतन वस्तुकी ही परिणतियाँ हैं वो सब पर्याय हैं।

यहां द्रव्य और गुणदृष्टिसे निज आत्मा व विशुद्ध आत्मामें कोई भी अन्तर नहीं है मात्र पर्याय दृष्टिसे अन्तर है भगवान् अरहंतका पर्याय सोलहवानसे तपाये गये सुवर्णके सदृश पूर्ण निर्मल है किन्तु कर्मफलमें जुड़ जानेके उपयोगके कारण हम संसारियोंका पर्याय समल है। यहां अरहंत भगवान्के द्रव्यत्व गुणत्व पर्यायत्वके जानने वाले आत्माको ज्ञाता होना कहा है क्योंकि अरहंत भगवान्का गुणपर्याय भी अत्यन्त निर्मल है अतः पर्यायका गुणोंमें अभेद रूपसे समझमें आना सुकर है। वैसे तो यथार्थतया किसी भी आत्मा को द्रव्यत्व गुणत्व पर्यायसे जाननेसे पर्यायके अभेदगत गुण और गुणके अभेदगत आत्मतत्त्वका ज्ञान हो लेता है परन्तु जहां द्रव्यस्वभावके प्रतिकूल पर्यायें होती हैं वहां पर्यायोंका अभेदीकरण सुकर नहीं है। जिस प्रकार दर्पणमें निजी स्वच्छता भी होती है उसमें परपदार्थ रक्तपट आदिको निमित्त करके जो छाया परिणति होती है उस परिणतिका उपादान

दर्पणकी निरुपधि स्वच्छता है किन्तु रक्तच्छायापरिणतिको उसकी स्रोतभूत स्वच्छतामें अभेद करना दुष्कर होता है तथा यदि रक्तपट आदि प्रतिकूल निमित्तके अभावमें दर्पणकी स्वच्छता पर स्वच्छ छाया भी रहती है उस स्वच्छ छायाका उसकी स्रोतभूल निजी स्वच्छतामें अभेदीकरण सुकर होता है। ✓

उसी प्रकार आत्मामें दर्शन ज्ञान चरित्र गुण होते हैं उसमें परपदार्थ कर्मको निमित्त मात्र करके जो विकृति होती है उस विकृतिका उपादान तात्कालिकयोग्यतासंपन्न दर्शन ज्ञान चरित्र हैं किन्तु विकृतिको उसकी स्रोत भूत दर्शनादिमें अभेद करना दुष्कर होता है तथा यदि मोहनीयादि प्रतिकूल निमित्तोंके अभावमें आत्माके दर्शनादि गुणोंकी स्वभाव परिणति होती है उस स्वभावपरिणतिको उसके स्रोतभूत दर्शनादि गुणोंमें अभेदिकरना सुकर होंता है और समस्त गुणोंका एक प्रधानभाव में अभेद एवं स्वभावका स्वभाववान् में अभेद सुकर है। जो इस प्रकार भेदोंको संक्षिप्त करके अभेदस्वभावमें पहुँच जाता है—वह निरपेक्ष यथार्थ स्वतन्त्र आत्माको जानता है और उसका मोह क्षयको प्राप्त हो जाता है। यह मोहके क्षयकी बात है। यद्यपि इस कालमें मोहका उपशम, क्षयोपशम तो हो लेता है क्षय नहीं होता है तथापि चैतन्यस्वभावीकी प्रवल श्रद्धासे सम्यक्त्वका ऐसा प्रवाह हो लेता है कि जव तक मोह क्षय को प्राप्त न हो जाय अन्तर नहीं पड़ता। यह वात तो यहां अव भी हो ही सकती।

जो अरहंतको द्रव्य गुण पर्यायसे जानता है वह आत्माको जानता है क्योंकि यथा द्रव्य गुण पर्यायशक्ति अरहंत भगवान् की है तथैव द्रव्य गुण पर्यातशक्ति मेरी है यह दृढ़तम विश्वास है क्योंकि उसने अपने आपका अपने स्वभावसे विश्वास किया है। वर्तमानमें जो क्षणिक विकार हो रहे हैं जिनसे कि हममें और अरहंतमें अन्तर होगया है वे मेरे स्वरूप नहीं है। होते हैं परन्तु ज्ञानी अंतरंगसे तो उनका ज्ञातामात्र है।

अहो आत्मोद्धारका मार्ग कितना स्वाधीन है? आत्मोद्धारका उपाय सम्यग्ज्ञान है इसमें किसी भी परवस्तुकी अपेक्षा प्रतीक्षा, आधीनता की बात नहीं कही गई है। निजस्वभावकी कारणता ही सर्व दशावोंमें मोक्षका मार्ग है।

निजस्वभाव अरहंत भगवानसे हीन नहीं है जैसा अरहंत भगवानका स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वभाव है। परिणमनमें जैसे अरहंत प्रभु हैं वैसा मैं भी अवश्य हो सकता हूं। स्वभावप्रतीतिवालेके इस जोड़में कालके अन्तर की खबर भी नहीं है अतः वर्तमानमें ही वह प्रभुसे अद्वैत होरहा है। जहां पर्यायों को गुणमें गुणको गुणीमें अभेद करके द्रव्यकी प्रतीति हुई तो उस प्रतीतिके फलस्वरूप "कारणसदृशं कार्यम्" इस न्यायके अनुसार लक्ष्यके विषयभूत अखंड चैतन्यस्वभावको कारण रूपसे उपादान करके परिपूर्णस्वभावका विकास हो जाता है इसी दशाको जब तक शरीरका एक क्षेत्रावगाह रहता है अरहंत कहते हैं। जैसे अरहंतको द्रव्य गुण पर्यायसे परखनेपर निजस्वभावकी प्रतीति होती है वैसे सिद्ध प्रभुको द्रव्य गुण पर्यायसे परखनेपर भी आत्मज्ञान होता है तथापि यहां अरहंत देवको दृष्टान्तमें रखनेका मात्र प्रयोजन इतना ही है कि पहिले साकार अर्थात् सकल परमात्मामें द्रव्य गुण पर्यायको परखने की हम साकार सकल आत्मावोंको विशेष समञ्जसता प्राप्त होती है एवं इस मनुष्यलोकमें विराजमान शुद्ध आत्मा अरहंत देव ही हैं।

अरहंतदेवके द्रव्य गुण पर्यायकी जो पद्धति है वही मेरी है, जैसे अरहंत देवके द्रव्यस्वभावमेंसे पर्यायें प्रकट हुई है, होती हैं वैसे ही हमारे द्रव्यस्वभावमेंसे ही पर्यायें प्रकट होती हैं। अरहंत दशा भी मेरी मेरे द्रव्यस्वभावमें से ही प्रकट होगी। इस प्रतीतिवालेको बाहर कुछ करना नहीं रह जाता (करना तो किसीको भी बाहरमें कुछ नहीं होता मात्र करनेका विकल्प ही मुग्धके होता है) मात्र निजचैतन्यस्वभावकी दृष्टि ही करनेको होती है यह दृष्टि स्वयंकी परिणति है इसका विषय भी स्वयं है अतः यह कार्य अत्यन्त स्वाधीन है।

मेरा आत्मा परिपूर्ण है, विकार भी है वहां भी परिपूर्ण व अधूरा कभी नहीं, मात्र परिणतिका अन्तर ही तो है वह विकार मेरा स्वभाव नहीं, ऐसे विकार का प्रतिषेध करके समस्त शक्तियोंके अभेदस्वरूप निज आत्मा को देखनेपर उपयोगमें भी अपूर्णता नहीं रहती, ऐसे परिपूर्ण निज आत्मा का जिसे अनुभव है उसे जगतमें कुछ वाञ्छनीय नहीं है। यह चैतन्यस्वभाव ही मोहका नाशक है उस स्वभावकी मुझे प्रतीति हो चुकी, अब मोहके क्षयमें शंका नहीं ऐसे मोहक्षयके कार्यमें निःशंकता आनेपर मोहक्षय चाहे दूसरे तीसरे भव में हो तथापि इस निःशंकताके बलपर इस प्रणाली में अन्तर नहीं आवेगा।

सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य मात्र आत्मज्ञान है, आत्मज्ञानी ही अहिंसक हो सकता है। वस्तुतः हिंसा स्वयं स्वयंकी करता है और अहिंसा भी स्वयं स्वयं की करता है। मिथ्यात्व क्रोध मान माया लोभकी परिणति ही हिंसा है और इन परिणतियोंका अभाव ही अहिंसा है। जो ऐसे परिस्पष्ट स्वरूपके उपयोगमें होता है उसके मिथ्यात्वादिका अभाव होनेसे अहिंसा स्वयं है। यथार्थतया अर्हद्भक्त अहिंसक है। वही सच्चा दयालु है। अपनी दया ही सर्वोपरि है अपनी दया करने वालेके निजहिंसाका महान् पातक स्वयं दूर हो जाता है। इसी प्रकार आत्मज्ञानी ही सत्य, अचौर, सुशील और अपरिग्रही होता है। जैसे अरहंतका आत्मा पवित्र शुद्ध है उसमें और किसीका प्रवेश नहीं और न स्वयंमें से किसीकी व्युच्छित्ति है इस प्रतीतिसे अपने स्वरूपकी ओर झुकनेमें परिपूर्ण सत्य, बाह्यके सम्पर्कका अभावरूप अचौर्य, अपने परिपूर्ण शीलमें स्थिरता और सकल परपदार्थोंके ग्रहणका अभावरूप अपरिग्रह स्वयं ही हो जाता है।

संसारी प्राणीने परभावकी दृष्टि रूप महान् खेद ही अब तक किया, स्वभावदृष्टिरूप अपनी दया नहीं की। इसीसे भवभ्रमणका महान् दंड भोगा। आत्मा स्वयं विज्ञानघन और आनन्दमय है इसमें कोई कमी नहीं है जो बाहरसे कुछ जोड़ कर ज्ञानी व सुखी बनाया जाय।

इसी तरह जो ज्ञान व सुखका बाधक है वह बाह्यमें कहीं नहीं है वह मोह राग द्वेष रूप विकार परिणमन ही है। वह स्वभावदृष्टि बिना दूर नहीं होता। स्वभावकी परखका उपाय जिनके स्वभावका विकास हो गया है ऐसे अरहंत भगवान्‌के द्रव्यत्व गुणत्व पर्यायत्वका निरीक्षण है। यहां अरहंतके स्वभावको अपने स्वभावके साथ एकरूप सादृश्य कर अनुभव करनेकी बात है इसी परिणतिसे आत्मावगम होता है। अब किस प्रकार अरहंतको द्रव्यत्वादिसे विचारनेपर अभेदस्वभावमें पहुंच होती है इस पद्धतिका वर्णन करते हैं।

जो अन्तरात्मा त्रिकाल रहनेवाले उस समस्त एक आत्मद्रव्यको (जिसे कि प्रकृतमें अरहंतके उदाहरणसे प्रारम्भ किया है) एक ही कालमें ग्रहण करता है उस अन्तरात्माके अन्तरमें ऐसी प्रबल महिमा उठती है कि उसके निजस्वभाव सामान्यमें स्थिति हो जानेसे निराश्रयताके कारण मोह नष्ट हो ही जाता है। ज्ञानमें ऐसी अद्भुत महान् सामर्थ्य है कि त्रिकालसम्बन्धी वह द्रव्य एक क्षणकी ज्ञानपर्यायमें जान लिया जाता है वह त्रैकालिक द्रव्य विकल्प रूपसे एक कालमें पूर्ण नहीं जाना जा सकता है किन्तु निर्विकल्प पद्धतिमें परिपूर्ण ज्ञात होजाता है। जैसे मोतियोंका एक लम्बा हार है वह समस्त एक कालमें अनुभव होता है परन्तु यदि एक-एक मोतीपर दृष्टि हो तब वह समस्त एक कालमें नहीं जाना जाता, अभेददृष्टिमें भी वह हार उतना ही जाना जाता है जितना कि वह पूरा है। इसी तरह अभेददृष्टिमें वह आत्मा परिपूर्ण ही जाना जाता है। यह अभेददृष्टि अथवा त्रिकालकी एककालमें तुलना किस पद्धतिसे होती है? वह इस प्रकार है—जैसे एक हारके अनुभवको करने वाला समस्त मुक्ताफलोंको हारमें ही संक्षिप्त—गर्भित कर देता है वैसेही यह अन्तरात्मा चेतनकी सर्वविवर्तोंको उनके मूल स्रोतभूत चेतनमें ही संक्षिप्त करदेता है तब वहाँ मात्र चेतन द्रव्यका-निर्विकल्प ब्रह्मका प्रतिभास होता है। विशेषण विशेष्यत्वकी वासना दूर होजाती है तब जैसे हारमें स्वभावसे जैसे स्वच्छताका प्रतिभास चलने लगा था वह भी

हारमें भेदरूपसे नहीं रहता वैसे ही पर्यायोंके अन्तर्धानके पश्चात् प्रतिभासमें आया हुआ चैतन्यस्वभाव चेतनमें भेदरूपसे नहीं रहता वहां जैसे केवल हारका अवगम रहजाता है इसी प्रकार केवल आत्माका अवगम रहजाता है। जहाँ केवल आत्माका परिच्छेदन है अमुक कर्ता है, अमुक कर्म है, अमुक क्रिया है ऐसा विभाग नष्ट होजाता है वहां जैसे हार पहिननेवाला पुरुष हारकी शोभाके सुखका अनुभव करता है किन्हीं विकल्पोंको नहीं, वैसे स्वसंवेदक अतीन्द्रियज्ञानके साधनसे अभेदरूप आत्माके सुखको अनुभवता है। इस तरह जब क्रिया रहित निश्चल चैतन्यस्वभावोपयोगी होता है वहां मोहका आश्रय ही नहीं रहता सो वह मोह लयको-क्षयको प्राप्त होजाता है।

कितना अपूर्व किन्तु स्वाधीन सरल उपाय है सर्व-विपदावोंके भञ्जन करलेनेका। इस निष्क्रियकी ओर उन्मुख करनेवाले पुरुषार्थके अतिरिक्त जो भी परविषय करते हुए व भेदको विषय करते हुए विकल्प हैं वे चाहे अनाकुल सुखसंवेदनके पूर्ववर्ती रहे आवें किन्तु अनाकुल निर्विकल्प अवस्थाको प्राप्त नहीं करते।

यह धर्मके प्रारंभकी बात है, जिसने अपने आत्माको नहीं जाना वह पर्यायको लक्ष्य करके कितने ही कठिन व्रत उपवास तप करले परन्तु शान्तिको प्राप्त नहीं होता, वहां यदि आनन्द मानता है तो वह भी एक लौकिक सुख है। धर्म चैतन्यस्वभावके आश्रयसे होता है, परके लक्ष्यसे पुण्य पाप, लौकिकसुख दुःख, शुभोपयोग अशुभोपयोग होते हैं वह पर चाहे स्वयंके विशेषरूप हो या परद्रव्यरूप हो उस पर्यायके लक्ष्यमें अटक जानेवाला पर्यायदृष्टि अज्ञानी धर्मका प्रारंभक भी नहीं है यह 'बहिरात्मा आत्माका पर्यायसे ही पहिचान कररहा है कुछ ज्ञानमें बढ़ा तो द्रव्य गुण पर्याय को भेदसे ग्रहण कर रहा है इसलिये भेदोंके आश्रयसे मोह बसाता है परन्तु जिस अन्तरात्माने पर्यायोंको गुणमें गुणको गुणीमें अन्तर्धान करके अभेदस्वरूप निजका अनुभवन किया वहां अखण्ड अभिन्नके लक्ष्यसे अभिन्नअविकारी पर्याय प्रकट होती है, अतः बेचारे मोहको कोई आश्रय

नहीं मिलता।

यहां अरहंतको द्रव्यत्व गुणत्व पर्यायत्वसे जाननेका विकल्प तब तक का है जब तक त्रैकालिक आत्मा सर्वस्वरूप परिपूर्ण एक कालमें अनुभूत नहीं होता। इन विकल्पोंके द्वारा अखण्ड आत्मा लक्ष्यरूप किया गया है उस अखंड अभेदरूप आत्माके लक्ष्यसे विकल्पोंको तोड़ कर अभेद आत्माकी उपलब्धिका आदेश है। ज्ञानीके अखण्ड अभेद आत्माके अनुभवके समयकी पर्यायमें पहिले पीछे स्वभावरूपताका निषेध हैं व अनुभव कालमें भी इससे विपरीत श्रद्धा नहीं रखते।

अरहंतके स्वरूपको जाननेपर पूर्वापर दशायें, उपाय, उपेय सर्व कुछ जानलिया जाता है, अरहंत भी पहिले अज्ञानदशामें थे उनकी आत्माने पूर्व हुए अरहंत को द्रव्यत्व गुणत्व पर्यायत्वसे जानकर अपने स्वरूपको पहिचाना और उस आत्मज्ञानकी स्थिरतासे शुद्धताकी वृद्धि द्वारा परमपवित्र अवस्था प्रकट की है, वे द्रव्यसे और गुणसे तो शुद्ध थे ही अब पर्यायसे भी शुद्ध हो गये हैं, इस प्रकार वे सर्व ओरसे शुद्ध हैं और अनन्तकाल तक शुद्ध रहेंगे। अरहंतके स्वरूपको जान कर आत्मस्वरूपकी भी उपलब्धि होती है—जैसा अरहंतका स्वरूप है सो मेरा है पर्यायमें जो विकार है सो यद्यपि निजशक्तिका विकार परिणमन है तथापि मेरा स्वभाव—स्वरूप नहीं है।

यहाँ अरहंतका स्वरूप अंतिम पाकपर उतरे हुए सुवर्णकी तरह अत्यन्त निर्मल जानना चाहिये। जैसे कोई भी शुद्ध सुवर्ण पहिलेसे ही शुद्ध न था प्रत्येक सुवर्ण पृथ्वीकाय है वह पृथ्वीकायिक बिना नहीं हो सकता है अर्थात् सुवर्ण पहिले खानमें सुवर्णपाषाण था। उसे आंच पाकपर उतारा गया तब परद्रव्यका मेल समाप्त होकर शुद्ध हुआ इसी तरह प्रत्येक अरहंत पहिलेसे ही शुद्ध न थे सर्व जीवोंका आदि आवास निगोद है। व्यवहारसे क्षयोपशमलब्धिविशेष आदिका सुयोग पाकर निश्चयतः—अपनी मलीनताका यथायोग्य अभाव करके उत्तम भव धारण कर मनुष्यभव पाकर आत्मपुरुषार्थ द्वारा आत्मज्ञान पाकर निज चैतन्यमें

प्रतपनरूप तपकेद्वारा घातियाकर्ममल दूर होकर आत्मासे मोह राग द्वेषादि विभावका क्षय करके निर्मल दशा प्रकट की है। यहां स्वभाव दृष्टिसे देखो तो जैसे ७५-८० टंची सोना हो, चाहे सौ टंची सोना हो दोनों स्वभावतया समान, है हाँ वर्तमान दशामें अवश्य अन्तर है स्वभावकी समानताकी श्रद्धा होनेपर ही ७५ टंची सोनाको अत्यन्त निर्मल बनानेके वास्ते सौटंची सोने (जो कि पर्यायसे भी शुद्ध है) से मेल किया जाता है और फिर जो अशुद्ध सुवर्णमें अशुद्धता ज्ञात हुई उसे सुवर्णमात्रके विकासके लक्ष्यसे अन्य पाक पर उतारा जाता है। इसी प्रकार मैं स्वभावसे अरहंत देवकी आत्माके स्वभावके समान हूं मात्र वर्तमान अवस्थामें अन्तर है अन्तर करने वाला जो विकार है वह मेरा स्वभाव नहीं है, क्षणिक पर्यायरूप है इसे जिस उपायसे अरहंत देवकी आत्माने क्षत कर दिया है मेरे भी उस अविकारी स्थायी स्वभावदृष्टि द्वारा क्षत हो जायगा। ज्ञानी अशुद्ध अवस्थामें भी वर्तमान निज आत्माको निर्मल आत्माके साथ मेल करता है फिर उसे जो निर्मल आत्माको लक्ष्यकर अपनी ज्ञानपरिणतिसे स्पष्ट स्वभाव दीखा है उसके बलसे अशुद्धताको दूर कर देता है।

अरहंतके परिस्पष्ट स्वरूप जाननेसे आत्माकी पद्धतिका स्पष्ट शीघ्र निर्णय हो जाता है। जैसे अरहंतका आत्मा सर्व लोकालोकको जान कर भी लोकालोकसे अत्यन्त पृथक् है इसी तरह जगतके सभी आत्मा परपदार्थोंको जानकर भी परपदार्थोंसे अत्यन्त पृथक् है। जैसे अरहन्त प्रभुका सुख आत्मस्वभावसे प्रकट होता है वैसे जगतके सभी आत्मावोंका सुख निजसुखशक्तिकी परिणतिसे प्रकट होता है अन्य किसी भी पर पदार्थसे नहीं। जैसे अरहन्त प्रभुका आत्मा अपनी ही परिणतियोंका ही कर्ता है अन्य किसीका नहीं वैसेही सर्व प्राणी भी अपनी परिणतियोंके कर्ता हैं किसी पर द्रव्यकी परिणतिके कर्ता नहीं है। अरहंत देव जैसे परसे अकिञ्चन अपनेसे परिपूर्ण है ऐसा ही हमारा आत्मा है। अरहन्त देव पुण्य पापरहित, परिग्रह रहित और अपने

ज्ञानदर्शन आदि सर्व शक्तियोंसे परिपूर्ण हैं इसी तरह मैं आत्मद्रव्य भी पुण्यपाप रहित अपने ज्ञान दर्शन आदि सर्वशक्तियोंसे परिपूर्ण हूं इसप्रकार अरहन्त देवकी तुलनासे निजस्वभावोन्मुखताके विकल्प करके उन विकल्पोंको भी तोड़कर स्वभावमें एकाग्र हुआ यही पुरुषार्थ मोहका क्षय कर देता है। अरहन्तके स्वरूपको देखकर अपनी प्रतीति करने वालोंको पर द्रव्यको करने या पर द्रव्यसे अपना कुछ करानेकी प्रतीक्षा नहीं रहती है इस लिये विकल्पोंके महान् क्लेशसे दूर हो जाता है।

कर्ता कर्म क्रियाके विभागके विकल्प अस्थिरता आकुलता उत्पन्न करते हैं। जहां मैं ही कर्ता हूँ, कर्म हूँ, क्रिया हूं इस प्रकारके अभिन्नकर्ता कर्म क्रिया का अनुभव किया वहां तदनन्तर पर्यायको गुणमें गुणको द्रव्यमें अन्तर्लीन कर देनेके कारण यह अभिन्न कर्तृ कर्मक्रियाका भी भेद क्षीण होजाता है और ज्ञानस्वभाव वृंहणशील होता है, इसी शक्तिके कारण इस आत्माका नाम ब्रह्म भी है। इस ब्रह्मके अनुभवकोप्राप्त–निष्क्रिय चैतन्यमात्र असीमित भावको प्राप्त अन्तरात्माके निष्कंप निर्मल प्रकाशवाले रत्नकी तरह(जैसे वहां अंधकार को अवकाश नहीं) निराश्रयता होनेसे वहां मोहांधकार प्रलीन हो जाता है।

यदि ऐसा ही हुआ तो मैंने मोहकी सेनाके जीतनेका उपाय पा लिया यहां शंकारूप बात नहीं है यह तो जाननेके बाद निःशंक शिष्य धर्मकी सरलता, स्वाधीनता व सुकरता समझकर कि बस इतना ही काम है–खुदका खुदमें ज्ञानमात्रकी ही बात है तो मोहसेनाके जीतनेका उपाय तो यही हाथमें ही है, प्राप्त हुआ।

अब यह अलौकिक धनी जिसने सम्यग्ज्ञानरूपी चिन्तामणि प्राप्त कर लिया है वह इस ओर जागता ही रहता है क्योंकि अपूर्व रत्न को हस्तगत कर लेनेपर उसकी स्थिर व्यवस्था व्यवस्थित जब तक नहीं कर पाता है तब तक वह समझता है कि इस प्रकार अलौकिक स्वभाव-दृष्टिसे यह सम्यक्त्वरूपी चिन्तामणि प्राप्त भी कर लिया तब भी मेरा

प्रमाद इस रत्नका चोर है इस लिये यह ज्ञानी जागता ही रहता है अपने स्वभावके उन्मुख होनेको यत्नशील रहता है।

यह सम्यक्त्व चिन्तामणि है। चिन्तामणिके सम्बन्धमें यह किंवदन्ती है कि इस रत्नके हस्तगत होनेपर जो जो विचारो उसकी पूर्ति हो जाती है, परन्तु किसी भी पाषाणमें रत्नमें ऐसी शक्ति नहीं है कि उसके पानेपर जो जो विचारो वह प्राप्त हो ही जावे। किन्तु सम्यक्त्व ही चिन्तामणि है इसके पानेपर सर्व अर्थकी सिद्धि होजाती है। जहां समस्त पर पदार्थोंसे परभावोंसे पृथक् निज चैतन्यभावमें स्थिरता होजाती है, निर्विकल्प स्वानुभव होता है वहां समस्त अनन्त पदार्थोंमें मोह राग द्वेषका अभाव होनेसे अनन्त आकुलताका अभाव होजाता है वहां सर्व अर्थकी सिद्धि ही हुई। उस सम्यक्त्वरूपी चिन्तामणिके पानेपर भी यदि प्रमाद रहा अर्थात् विषयकषाय भाव रहा तो सम्यक्त्वरूपी रत्न लुट जायगा। यह चोर कहीं बाह्य अर्थमें नहीं है वह मेरी ही असावधानीका परिणमन है इसी लिये उसका बड़ा धोखा है यह इतना बड़ा धोखा है कि यदि इसके चक्रमें आवे तो फिर ऐसा भी संभव है कि कुछ कम अर्द्ध पुद्गल-परिवर्तन काल तक संसारचक्रमें रुलना पड़ेगा। अतः यहां अन्तरात्मा वार वार जागता है-यहां जागनेका तात्पर्य-अपने आपको राग द्वेषसे बचाकर शुद्धस्वरूपमय अपने आपको प्राप्त करनेका यत्न है। वह किस प्रकार जागता है इसका विवरण श्री भ० कुंद कुंद आचार्य करते हैं-

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥

जिसका मोह भाव दूर हो गया है ऐसा ज्ञानी जीव आत्माके सम्यक् शिवमूल यथार्थ स्वरूपको प्राप्त करता हुआ भी यदि राग द्वेषरूप प्रमाद भावको त्याग देवे तब वह जीव शुद्ध निर्मल आत्माको प्राप्त होता है।

मोहको दूर करनेका उपाय ऊपर कह गया उपाय है। अर्थात् अरहंतको द्रव्य गुण पर्यायसे जानना और अपने स्वभावसे एकमेक करना

करना और पर्यायको गुणमें गुणको द्रव्यमें अन्तर्लीन करके निष्क्रिय चैतन्यमात्रका अनुभव करना मोह दूर करनेका उपाय है। यह उपाय सरल स्वाधीन होनेपर भी अबसे पहिले कठिन ही रहा है इसमें निमित्त कारण मोहनीय कर्मका विपाक है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, मात्र अपनी ही परिणतिसे सब परिणमते हैं किन्तु जो स्वभाव विरुद्ध परिणमन है उसमें निमित्तका आश्रयमात्र होना आवश्यक है। जैसा यहां आप दरी पर बैठे हैं तो दरीने जबर्दस्ती आपको नहीं बिठाया है किन्तु आप स्वयं दरीको आश्रयमात्र करके अपनी क्रियासे बैठ गये यहां मैं तख्तपर हूँ तो तख्तने जबर्दस्ती तो हमें बिठाया नहीं। हम ही स्वयं अपनी कषायचेष्टा से प्रेरित होकर निमित्तके निमित्तकी परम्परा पूर्वक यह शरीर शरीरक्रिया से परिणत होता हुआ तख्तको आश्रय मात्र करके बैठ गया है। ऐसी प्रक्रिया सर्व निमित्तोंकी जानना फर्क इतना है कि जहां परस्पर निमित्त नैमित्तिकसंबन्ध है वहाँ कुछ विशिष्टता नजर आती फिर भी सर्वत्र सर्वद्रव्य परस्पर अत्यन्ताभाव को लिये हुए हैं। प्रकृतमें विभाव परिणामों को निमित्तमात्र पाकर बद्ध हुए मोहनीय कर्मस्पर्द्धकोंके विपाकको निमित्त मात्र पाकर जीवकी निजस्वरूपाचरणमें कुछ भी सावधानी न रही।

सम्यक्त्वप्राप्तिके अर्थ ५ लब्धियाँ होती हैं जिसमें सर्वप्रथम लब्धि का नाम क्षयोपशमलब्धि है जिसका अर्थ सर्व कर्मोंके अनुभागआदि में शिथिलता होना है सो सर्व प्रथम कर्मोंकी शिथिलता होना आत्मोन्नति मार्गमें आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो क्या कारण है जो विशिष्ट विशुद्धिका पात्र जीव नहीं होता है। यदि अकारण ही कहो तो व्यतिकर संकर होजायगा। यदि यह कारण कहो कि खुदने खुद पर दृष्टि नहीं की तो यह तो प्रश्नसम उत्तर हुआ, यही तो पूछा जारहा है कि क्यों खुद खुदपर दृष्टि न कर सका? कर्मोंके फलोंमें क्यों जुड़ता रहा? इसका समाधान मोहनीयकर्मके विपाकको निमित्त माननेके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ऐसा मानने पर पुरुषार्थको ऐकान्तिक

पराधीनता नहीं आती है क्योंकि हम सब लोग जिस अवस्थामें बैठे हैं वहां उतने क्षयोपशमकी तो निश्चितता है ही। अब पुरुषार्थके लिये बहाना करना ठीक नहीं है यह तो प्रथम अवस्था की बात कही है। वहाँ भी वह विभाव कर्मके आधीन नहीं स्वके चतुष्टयके ही आधीन है, पर तो मात्र निमित्त है। आत्मभाव और कर्मविपाक इन दोनोंमें मुकाबलेतन आत्मभावकी विशिष्टता है क्योंकि यह ईश्वर है फिर भी अत्यन्त तीव्रमोहकी निम्न अवस्थामें जीवके उन्नतिका प्रारम्भ क्षयोपशमलब्धिसे होता है। ऐसा होनेपर भी कर्मसे परिणति नहीं होती सर्व द्रव्योंका अपने अपने अन्तरमें ही परिणमन होता है।

द्रव्य है और उसकी पर्याय है पर्याय द्रव्यस्वभावकी ही प्रतिसमय की अवस्था है वह जिसका परिणमन है उसपर दृष्टि जाय तो पर्याय गौण होकर मात्र द्रव्य अनुभवमें रहे इस तत्त्वको जिसने जाना उसने आत्माको जाना और उसके मोहका अपसरण हुआ। इस प्रकार उपवर्णित स्वरूपके उपायसे मोहको दूर करके भी व भले प्रकार आत्मतत्त्वको प्राप्त करके भी यदि राग द्वेषको कोई निर्मूलन करता है तो ही शुद्ध आत्माको अनुभवता है। राग द्वेषको पुष्ट करनेवाला मोह है। जैसे वृक्षकी हरियालीका पोषक वृक्षकी जड़ है। वृक्षकी जड़ मिट जानेपर हरियाली कब तक रहेगी। इसी प्रकार मोहके दूर होने पर राग द्वेष कब तक रहेगा फिर भी यदि रहे हुए राग द्वेषका अनुवर्तन करेगा तो प्रमाद विपकषायके तन्त्र होनेसे लुट गया है शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप चिन्तामणि जिसका ऐसा निर्धन होता हुआ अन्तरंगमें संतप्त ही होवेगा। इस राग द्वेषकी आपदाका कारण देवस्वरूपकी मूढता है अथवा जहां मोहादिभावोंका उदय हुआ वहां देवस्वरूपमें मुग्ध हो जाता है तो देवस्वरूपका भूल जाना व मूढता होजाना पुनःपतनका साधन होजाता है। अरहंत प्रभुके स्वरूपको द्रव्य गुण पर्यायों से जानकर पश्चात् तद्रूप जो निज शुद्धात्मस्वभाव है उसमें स्थिर होकर मोक्षमार्गका अन्तिम स्थान पावेगा। उदयमें आते हुए राग द्वेषका अनुवर्तन न करना अन्तरात्माका

पुरुषार्थ है। आये हुए को पूछना उससे निवृत्त होनेका उपाय है।

इस आत्माका शुद्ध आत्मतत्त्व रूपी चिन्ता रत्न लुट गया इस का अंतरंग कारण इस ही आत्माका प्रमादके आधीन होजाना है जैसे लोकमें कहते हैं कि अपनी सावधानी नहीं करते दूसरोंको लुटेरा कह कर कोसते हो इसी तरह आत्मा अपनी सावधानी नहीं करता और वाह्य पदार्थको अपने शुद्ध विकासका लुटेरा कहते हैं। वाह्य द्रव्य अपनी ही परिणतिका कर्ता है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणतिको त्रिकालमें भी नहीं कर सकते। यदि कोई किसीकी परिणति करदे अर्थात् उस पर्यायमें उस काल तन्मय होजावे तो द्रव्यका ही अखंड स्वरूप न रहनेके कारण नाश हो जावेगा। तब यहां जो आत्माकी विकृत अवस्था हो रही है वह उसही की भूलका परिणाम है। आत्मस्वभावको भूल जानेसे जो विपदा आती है उससे वह अन्तरंगमें महान् संतप्त होता रहता है जो भूल करता है वही संतप्त होता है यह द्रव्यदृष्टिसे कथन है। भूल करनेवाली पहिली पर्याय है और संतप्त करने वाली पर्याय अगली पर्याय है यह भेद-पर्यायदृष्टिसे कथन है। यथार्थतया तो भूल करते समय ही वही पर्याय भूलके फल आकुलताको भोगती है और उस समयकी अवस्थाको निमित्तमात्र पाकर कर्मरूप हुए कार्माणवर्गणावोंके उदयकालमें उपचारसे पूर्व क्रियाके फलको भोगते समय प्रमाद (भूल) को वही पर्याय करती है। मेरे चोर मेरे ही अन्दर हैं परन्तु स्वभावमें नहीं, क्योंकि वह चोर विभाव पर्याय है और सभी पर्यायोंका प्रवेश स्वभावके ऊपर है अर्थात् स्वभावकी निरुपाधि अथवा सोपाधि क्षणिक परिणतियां हैं। सो ये लुटेरे मेरे अन्दर हैं वे राग द्वेष ही हैं अतः मुझे इन राग द्वेष विभावोंके निषेध केलिये अत्यन्त जागृत रहना चाहिये।

इस गाथामें मोहके अपसरणकी वात कही गई है और बताया है कि मोह दूर करके भी आत्मतत्त्वको प्राप्त करके भी यदि रागद्वेषका निर्मूलन करे तो शुद्धात्माका अनुभव होता है। यहां सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानका एक साथ होना सूचित किया है जिसकालमें मोह (अज्ञान)

का विनाश है उसी कालमें आत्मतत्त्वका अवगम है किन्तु अभी चारित्रकी प्राप्ति नहीं है इसलिये कहते हैं कि यदि राग द्वेषका निर्मूलन करे तो शुद्धात्माका अनुभव हो। यहाँ बताया गया है कि शुद्धात्माकी रुचिरूप सम्यग्दर्शन व आत्मतत्त्वके अवगमरूप सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होने पर भी रागद्वेषका निर्मूलन न हो तो शुद्धात्माका अनुभव नहीं होता। शुद्धात्माका अनुभव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण चारित्रकी विशेषता इन तीनों करि साध्य है। रागद्वेषकी प्रवृत्तिमें शुद्धात्माका अनुभव नहीं तथा यदि बार बार रागद्वेषका अनुवर्तन किया तो वह आत्मतत्त्वोपलंभक सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञानरूपी रत्न लुट जायगा, मिथ्या-दृष्टि हो जावेगा। साधारणतया राग द्वेषके रहते हुए भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान रह लेता है किन्तु मोह आसक्ति-पुनः पुनः राग द्वेषमें लगने से सम्यक्त्व भी नष्ट होता है। सम्यग्दृष्टिके जो रागभाव रह जाता है उसमें उसकी रुचि नहीं है उसे विकार समझकर हटानेका ही भाव करता है। राग द्वेष विकार उपाधिज भाव है मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो ज्ञाता हूँ ऐसी अन्तःस्वीकृति उसके है। इस गाथासे पहिले मोहके अपसरणका उपाय बताया है कि अरहंतके द्रव्य गुण पर्याको जाननेवाले आत्माको जानते हैं- अनुभवते हैं और वे मोहके क्षयको प्राप्त होते हैं।

इस गाथामें बताया जारहा है कि उक्त उपायसे आत्माका परिज्ञान भी हो जावे किन्तु जब तक भेदरूप विकल्प बना रहता है तब तक शुद्धात्माका अनुभव नहीं है। क्योंकि पर्यायोंको गुणमें गुणको द्रव्यमें विलीन करके द्रव्य विकल्पको भी तोड़कर शुद्ध आत्माका अनुभव होता है। वहां जो पहिले अरहंत देवकी भक्तिरूप भाव है वहशुद्धात्मासे विलक्षण होने से विकृत भाव है, विकारसे धर्म नहीं होता उस विकाररूप विकल्पसे मुक्त होकर शुद्धात्माका अनुभव है। हां यह बात अवश्य है कि जिस के विषयकषायरूप तीव्रराग है, अर्हद्भक्तिरूप मंदरागकी योग्यता ही अविकारी आपके उन्मुख होनेका प्रथम पात्र भी नहीं है क्तिरूप मंदरागमय पर्यायमें ही अटक जावे तब वह भी

अविकारी भावके उपयोगका पात्र नहीं है। और जो विषय कषायके रागमें अटक जाय तो सम्यक्त्व पाया हो तो वह भी नष्ट हो जाता है। अतः मुझे रागद्वेषके निवारणके अर्थ अत्यन्त जाग्रत रहना चाहिये।

अब ग्रन्थकार श्रीमत्कुंदकुंदाचार्य इस तरहकी बुद्धिको व्यवस्थित कराते हैं कि मोक्षका वास्तविक पंथ यही भगवंतोंने स्वयं अनुभव करके प्रदर्शित किया है। यह ही मार्ग, अन्य नहीं जो कि ८० व ८१ गाथामें कहा गया है। यह एक ही है। लौकिक विनयवादी कहा करते हैं कि किसी मजहबका सहारा लो सब एक ही जगह पहुँचाते हैं परन्तु बात ऐसी नहीं है क्योंकि किसीने स्वतंत्रताको धर्म कहा है तो किसीने परतन्त्रताको, किन्हींको अपनी ही सत्ता स्वीकार नहीं है तो किसीको अपनी कूटस्थ सत्ता स्वीकार है आदि। ऐसी परस्पर विरुद्ध धारणावोंका प्राप्ति स्थान एक नहीं होगा। आत्माको द्रव्य गुण पर्यायसे जानो। जब आत्मद्रव्य स्वतंत्र है तब गुण भी स्वतंत्र है और पर्याय भी स्वतंत्र है परको निमित्त मात्र करके परिणमनेवाले विभाव अपनी परिणति क्रियामें स्वतंत्र है, पर्याय परिणमनेमें स्वतंत्र है इससे विपरीत द्रव्यको परतंत्र मानना, गुणको परतन्त्र मानना, पर्यायको परतन्त्र मानना, दीखती हुई दुनियांका भी विनाश करना है पारमार्थिक नाश तो है ही। भगवंत अरहंत देवाधिदेवने स्वयं इस मार्गका अनुभव किया और सफल हुए सफल होकर निरीह दिव्यध्वनिद्वारा लोगोंको बतानेमें निमित्त कारण हुए। मोक्षमार्ग निज आत्मस्वभावकी रुचि प्रतीति स्थिति ही है अन्य नहीं है ऐसी परिपूर्ण श्रद्धा हुए बिना मोक्षमार्गका प्रारंभ नहीं होता। जैसा तत्त्व है वैसी ही बुद्धिकी व्यवस्था करनेमें लौकिक सुख तो सिद्ध होता ही है पारमार्थिक सुखकी सिद्धि भी यही है अन्यत्र भावोंमें नहीं है। अतः ऐसी मतिकी व्यवस्था होना अत्यन्त आवश्यक है। उसीका विवरण करते हैं।

सव्वेवि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

अरहंतको द्रव्य गुण पर्यायसे पहिचानकर निज आत्माको जानने वाले समस्तमोहभावको दूर करते हैं। निजात्मस्वभावकी रुचि प्रतीति मोक्षमार्गका उपाय है इस ही उपायसे भव्य आत्मावोंने कर्मांशोंका क्षय किया है और अरहंत हुए हैं। तब उस ही प्रकारका निरीह उपदेश देकर पश्चात् निर्वाणको प्राप्त हुए हैं अहो कैसा शुद्ध ध्येय, शुद्ध आलंबन, शुद्ध यत्न, शुद्ध ज्ञान व शुद्ध द्रव्य है। यह सब निज आत्मस्वभावकी उन्मुखता का फल है। अरहंत देव स्वयं शुद्ध होकर स्वयंकी सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं और अन्य भव्य जीवोंको स्वयं अनुभव किये हुए मार्गका उपदेश देकर उनके उपकारके विशुद्ध कारण होते हैं। अहा !! जिनके निमित्तसे हमें मोक्षमार्गका निश्चय हुआ है वे अरहंत व यह मोक्षमार्ग हमारे परमोपकारी हैं उन मोक्षमार्गके उपदेशक अरहंत देवोंको और इस मोक्षमार्गको जो कि एक निज शुद्ध आत्माकी अनुभूतिस्वरूप है हमारा नमस्कार हो।

भगवान् अरहंत देव अनन्त होगये हैं। ५ भरतक्षेत्र व ५ ऐरावत क्षेत्र इन १० कर्मभूमियोंमें अर्थात् इन क्षेत्रोंके उत्सर्पिणी अथवा अवसर्पिणी कालके चतुर्थकालमें उत्पन्न हुए भव्यात्मा अरहंत देवके द्रव्य गुण पर्यायोंको जानकर अपने आपको पहिचान कर निजशुद्धात्मानुभूति करनेके उपायसे अरहंत हुए हैं। इनमें प्रत्येक चतुर्थकालमें हुए २४ तीर्थ-करोंने विशेष रूपसे भव्यजीवोंको दिव्यध्वनि दी है। इसमें कहीं रागभाव नहीं है यह तीर्थंकर प्रकृतिके उदयका फल है। ऐसे चतुर्थकाल अनंत हो चुके हैं। तथा ५ महाविदेहोंमें सर्वदा मोक्षमार्ग चलता रहता है वहांके उत्पन्न निकट भव्य आत्मा सदा मोक्ष जाते रहते हैं। इस प्रकार अतीत कालमें अनंत अरहंत होगये हैं भगवंत तीर्थंकर होगये हैं उन्होंने अन्य कोई उपाय न होनेसे एक मात्र इस ही निजशुद्धात्मानुभूतिके उपायसे कर्मांशोंका क्षय किया है। यहां कर्मांश शब्द देनेका भाव यह है कि कर्मोंका काण्डकों की विधिसे क्षय होता जाता है। जिन्होंने उस पारको पाया है वे ही बीचका मार्ग जो तिरनेका उपायरूप है कहनेमें प्रामाणिक

समझे जाते हैं। इस ही कारण ये अरहंत प्रभु ही परम आप्त हैं इन्होंने स्वयं निज शुद्धात्माका अनुभव करके कर्मांशोंका क्षय किया है और अन्य भव्यात्मावोंको मुमुक्षुवोंको अतीतकालमें उसही प्रकार उपदेश दिया है व वर्तमानमें भी महाविदेहादिमें इसही यथार्थमार्गका उपदेश दे रहे हैं। और उपदेश देकर निरीह होनेवाली उस क्रियासे भी विराम लेकर अयोग स्वरूपी द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म इन तीनों प्रकारके मलोंसे अत्यन्त रहित हो कर निश्रेयस अर्थात् परमकल्याणको प्राप्त हुए हैं। इसलिये यह स्वातन्त्र्य और अभेदीकरण मोक्षमार्ग है अन्य नहीं, यह निश्चय किया जाता है।

जिसने अरहंतके द्रव्य गुण पर्यायको जाना उसने स्वतंत्र स्वरूप ही जाना। जैसे अरहंत देवका आत्मद्रव्य स्वतंत्र स्वयं रक्षित अखंड सत् है वैसे ही मैं भी स्वतंत्र स्वयंरक्षित अखंड सत् हूँ इसीप्रकार गुण भी स्वतंत्र स्वयंरक्षित अखंड सत् हैं। पर्याय भी गुणकी परिणतिमात्र है वह भी अवश्यंभावी है वह भी अपने कालमें होती ही है। पर्याय गुणकी परिणतिमात्र है अतः पर्याय न अन्य द्रव्यसे आती है, न अन्य गुणोंसे आती है, न अन्य पर्यायोंसे आती है। सूक्ष्मतया तो वर्तमान पर्याय वर्तमानकारणक है। विकल्पोंसे निर्विकल्प अवस्था नहीं होती है। निर्विकल्प अखण्ड द्रव्यके द्रव्यस्वभावके लक्ष्य पूर्वक समस्त विकल्प पक्षोंसे अतीत होकर ही निर्विकल्प अनुभव पाया जाता है। अविकारी पर्यायका आलंबन विकार नहीं है। विकारके आलंबनसे विकार ही होता है। शुभ अशुभ भाव मेरे स्वभाव नहीं है और न इन विभावोंके आलंबनसे अविकारी निर्मल पर्याय प्रकट होती है। द्रव्यमें भी पर्याय पर्यायके आलंबनसे नहीं होती है किन्तु द्रव्यके आलंबनसे होती है ऐसा होते हुए भी जिनके उपयोगने अध्रुवका अर्थात् पर्यायका आलंबन लिया है उनके मलिन पर्यायका प्रवाह होता है और जिन्होंने जैसा होता है उस ही प्रकार प्रयोग द्वारा ध्रुव अर्थात् द्रव्यका आलम्बन लिया है उनके निर्मल पर्यायका प्रवाह होने लगता है।

यह द्रव्यदृष्टि ही निर्णयका प्रारंभ है, द्रव्यस्वभावका कारण रूपसे उपादान होते जाना निर्वाणका मार्ग है अन्य नहीं, ऐसा निश्चय किया जाता है। अथवा वहुत प्रलापसे क्या लाभ है। जव वस्तु-तत्त्व हस्तगत होगया है तव प्रलाप व्यर्थ है इससे क्या लाभ है। मेरी मति व्यवस्थित होगई है श्रद्धामें निष्कंप होगई है। वस ! वस ! भगवंत अरहंत देवोंको नमस्कार हो। उनके द्रव्य गुणपर्यायोंके स्वरूप ज्ञानसे पश्चात् उसही प्रकार अपने आत्माके अवस्थानरूपसे भाव्य भावकके विभागके अभावसे होनेवाली स्वरूपतन्मयतासे अद्वैतनमस्कार हो। व्यवहारमें प्रवेश होनेपर अरहंत प्रभुका ध्यान ही रहो, शुद्धात्माका ही ध्यान रहो। धन्य है महंतों की परमोपकारिता स्वयं स्वरूपसे विचलित न होकर जिनके निष्काम योगको निमित्त पाकर भव्य जीव मिथ्यात्व महापापका निर्मूलन करदेते हैं और चारित्रका आश्रयकर वीतराग अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। उनके लिये, प्राप्त सर्व सामाग्री जो विसर्जित हो सकती है निर्वपन करता हूँ। तन मन वचन तीनों विनाशीक हैं जो विनाशीक है वही विसर्जित हो सकती है अतः उस शुद्धात्माके ध्यानमें ही यह तन लगो मन लगो वचन लगो। धन तो प्रकट क्षेत्रतः भी भिन्न है। धनके काल्पनिक अधिकारी अपने धनको वीतरागमार्गके प्रचारमें ही लगा देते हैं। मेरा सर्व कुछ भगवंत अरहंतकी आराधनामें लगो। भगवंत देवाधिदेव अरहंतोंको भक्तिसे नमस्कार हो। अहो इस गुणगानके कालमें भी ज्ञानी अविकारी स्वभावके उन्मुख होरहा जिस रागका फल यह चेष्टा है उस रागकी उन्मुखता नहीं है उस रागके प्रति यह विकार भाव है इससे परे अविकारी मेरा स्वभाव है-स्थान है यह प्रतीति चल रही है। निर्वाणमार्ग और निर्वाणमार्गके उपदेशकोंकी परमोपकारिता जान कर वहुमान होना मुमुक्षुका अनिवार्य कर्तव्य है किन्तु प्रोग्राम उसका सिद्ध प्रभु ही होनेका है। इस प्रकार अन्तरात्मा निर्वाणमार्गका निश्चय करके अपनी मतिकी निष्प्रकंप व्यवस्था करके अन्तमें कुछभी करने योग्य क्रिया कलाप न रहनेसे भगवंत अरहंतको नमस्कार करके

स्वमें विराम पाता है।

अब आचार्य श्री कुंकुंद महाराज शुद्धात्मलाभके परिपंथी मोहके स्वभाव और भूमिकावोंको कहते हैं—यह मोह पर्याय पर्याय दृष्टिसे शुद्धात्माका परिपंथी है— अवरोधक है किन्तु द्रव्यदृष्टिसे शुद्धात्माका परिपंथी कोई भी पर्याय नहीं है क्योंकि सर्व द्रव्योंसे पृथक् शुद्ध आत्मद्रव्य अनादिसे अनन्त सर्वत्र पर्यायोंमें व्यापक है हां मोह पर्याय शुद्धात्माके लाभका परिपंथी है। शुद्ध निर्मल स्वतन्त्र आत्मद्रव्य सदा प्रकाशमान होते हुए भी मोहपर्यायके साथ एकमेक किया गया होनेसे उस पर्याय कालमें अनुपलब्ध है। ऐसे शुद्धात्मलाभका परिपंथी जो मोह उसके स्वभावको बतलाते हैं।

प्रश्न—पर्याय स्वयं किसी स्वभावकी परिणति होती है अतः पर्यायका स्वभाव कहना अनुपपन्न है स्वभावका पर्याय तो होता है परन्तु पर्यायका स्वभाव नहीं होता है तब यहां पर्यायका स्वभाव कैसे घटित होगा। उत्तर—पर्यायके कार्यको फल को यहां पर्यायका स्वभाव बताया गया अथवा जिस पर्यायके कालमें जिस फलका होना अवश्यंभावी होता है वह फल अथवा उस फलकी प्रकृति पर्यायका स्वभाव कहलाता है। लोकमें भी कहते हैं कि बिच्छूका स्वभाव काटना है। कुत्तेका स्वभाव भोंकना है आदि। यहां मोहविभाव आवे तो उसकी प्रकृति क्या है यह समझना है।

अब मोहके स्वभावको व भूमिकावोंको कहते हैं— भूमिका स्थानविशेषका नाम है मोहके अवरुद्ध स्थानोंको ज्ञान कर मोहके स्वभावसे परिचित कराया जाता है तथा मोहके अवरुद्ध स्थानोंको जानकर मोहके स्वभावका परिचय प्राप्त होता है। इसतरह, स्वभाव व भूमिकावोंमें परस्पर सहकारिता है अतः एक ही गाथामें मोहके स्वभाव और भूमिकावोंका विभावन करते हैं—वर्णन करते हैं। मोह एक विभाव पर्याय है अतः यहां विभाययति शब्दका मेल किया है अब मोहके स्वरूप और भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

दव्वादिएसुमूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति।
खुब्भदि तेणोच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥८३॥

जीवका जो परिणाम द्रव्य गुण पर्यायमें मूढ है विवेकरहित है वही तो मोह भाव है उस मोहभावसे आच्छादित हुआ यह वहिरात्मा रागभावको व द्वेषभावको प्राप्त पाकर क्षुब्ध होता रहता है। यही जीवकी वेहोशी है। जैसे धतूरेका पान करके जीव असावधान-उन्मत्त रहता है उसे किसी पदार्थमें विवेक नहीं रहता सर्वव्यवहार अविवेकपूर्ण रहता है इसी प्रकार इस मिथ्यात्वरसपानसे जीव असावधान-उन्मत्तरहता है यह सब मोहका नाच है जीवका स्वभाव नहीं है। तभी तो ज्ञानी जीव मोहियोंपर यथार्थ कृपा करते हैं ग्लानि नहीं, क्योंकि ग्लानिके योग्य जीव द्रव्य नहीं किन्तु मोहभाव ही है। मोहभाव स्वभाव नहीं है वह प्रतिक्षण उत्पन्नध्वंसी विभाव पर्याय है इसकी स्थिति उपयोगकी अपेक्षा प्रवाहरूपसे अन्तर्मुहूर्त है मिथ्यात्वकी लम्बी स्थितिमें निरंतर अनेक उपयोग मिथ्यात्वको रसते रहते है। अनादि अविद्यासे उत्पन्न जो परमें आत्म-संस्कार है उससे अविवेकी वने रहते हैं। यह मोह परिणाम मिथ्यात्वके उदयको निमित्तमात्र पाकर आत्माके श्रद्धा (दर्शन) गुणकी परिणतिसे होती है और वह मिथ्यात्व पूर्वमोहभावको निमित्त मात्र पाकर कार्माणवर्गणाकी प्रकृति परिणतिसे निर्वृत्त हुआ था यही ऐसी परम्परा अनादिसे चली आई है ऐसे अनादिपरम्पराप्रवाहगत मोहभावको नष्ट कर देनेकी जीवमें प्रतिक्षण शक्ति है।

यह जीव द्रव्य अनादि मोहकलंकको वसाकर भी स्वभावसे विगड़ा नहीं है मोहभावसे पृथक् निजशुद्धात्मस्वभाव परखनेकी वुद्धि जीवके ही होती है जिसका मिथ्यात्व दूर होनेको होता है। यह परिणाम भी उस पदवीमें उत्तम है किन्तु निर्विकल्प निज शुद्धात्मस्वभावका अनुभवन न होनेके कारण सम्यग्दर्शन नहीं है। उत्तम होनेका प्रयत्न अनुत्तम अवस्थामें ही तो होता है क्योंकि उत्तम होजाना तो उस प्रयत्नका फल है ऐसा प्रयत्न करनेकी जिनके योग्यता होती है उनके ही कहा जाता

है कि मिथ्यात्व मंद होगया है। जिनके मोहभावके सम्बन्धमें किञ्चित् भी ग्लानि नहीं होती, जो उसका पोपण करते रहते हैं उनके तीव्र मिथ्यात्व कहा जाता है। मोहभावसे द्रव्य गुण पर्यायके विपयमें यथार्थताकी प्रतिपत्ति नहीं रहती।

पहिले ८० वीं गाथामें बताया था जो अरहंतको द्रव्य गुण पर्यायसे जानता है वह आत्माको जानता है उसका मोह क्षयको प्राप्त होता है अर्थात् वह सम्यग्दृष्टि होता है। अरहंत शुद्ध अवस्था है अतः यह निष्कर्ष निकला कि शुद्ध आत्मद्रव्यमें शुद्धआत्मद्रव्यके अस्तित्वादि सामान्यगुण व ज्ञानादि विशेपगुणों में व शुद्धात्मपरिणतिरूप पर्यायोंमें जिसे विवेक है वह आत्मज्ञ होता है। अब इस गाथामें यह बताते हैं कि पूर्वोक्त द्रव्य गुण पर्यायोंमें जिसे तत्त्वकी प्रतिपत्ति नहीं है वह मोहभाव है, जिससे यह निष्कर्ष निकला कि शुद्धात्मद्रव्यमें और उसके अस्तित्वादिसामान्यगुण व ज्ञानादि विशेपगुणोंमें व शुद्धात्मपरिणतिरूप पर्यायोंमें जिसे विवेक नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। जहां तत्त्वकी प्रतिपत्ति नहीं होती है वहां तीन प्रकारके अज्ञानोंमें से कोई अज्ञान रहता ही है १ संशय, २ विपरीत, ३ अनध्यवसाय। ऐसा अंधकार जहां रहता है वह है दर्शनमोह। दर्शनमोहके विपाकमें जीवकी परिणति मूढ होना पड़ती है तब वह शुद्ध द्रव्य गुण पर्यायोंको क्या जाने अथवा शुद्ध अशुद्धका अन्तर क्या समझे अथवा प्रतीतिका प्रयत्न ही कहांसे करे ?

भैया ! दतियामें एक राजा था वह मंत्रीके साथ हाथीपर चढ़ा जंगलमें घूमरहा था। वहां मदिरा पिये हुए एक कोलीने राजासे कहा कि ओवे रजुवा हाथी बेचेगा ? राजाको क्रोध आगया। तब मंत्री समझाता है कि हे राजन् आप इस गरीवपर क्रोध मत करो यह कुछ नहीं कह रहा है यह तो और ही कोई कहता है। राजाने कहा कि यह स्पष्ट ही तो है कि यही कह रहा है तो मंत्री ने कहा—महाराज आप चले चलिये। राजदरबारमें इसका मर्म बतावेंगे। ५-६ घंटे बाद राजदरबार लगा। यहां मंत्रीने उस कोलीको बुलाया तब राजाने पूछा कि भाई मेरा हाथी

खरीदो ? तब कोली भयसे काँपता हुआ कहता है कि महाराज आप क्या कह रहे हैं इस गरीब को। आप होशमें बोल रहे हैं क्या ? मेरी क्या शक्ति। तब मंत्रीने समझाया कि राजन् यह कोली वहाँ नहीं बोलरहा था किन्तु मदिराका नशा बोल रहा था। सो भैया ! यह जीव द्रव्य स्वयं नहीं नाचरहे हैं किन्तु मोह परिणामही सर्वत्र नाच रहा है। ऐसे इस मोह परिणामसे दबे हुए बहिरात्मा परद्रव्यको तो मान रहे हैं कि यह मैं हूँ अथवा यह मेरा है और परगुणको मान रहे हैं यह मेरा गुण है और परपर्यायको मान रहे हैं कि यह मेरी पर्याय है। ऐसा मानकर ही रह जाते हों आगे कुछ प्रवृत्तियां न करते हों ऐसा भी नहीं है किन्तु इस मिथ्यात्व भावके दृढ़तर संस्कारसे परद्रव्यको ही कल्पनामें रोज रोज ग्रहण कररहे हैं।

आत्माका आत्माके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है उसमें यह मेरा है यह जबर्दस्ती करना चोरी है इस चोरीके परिणामसे ही कर्म न्यायाधीशके निमित्तसे ८४ लाख योनियोंमें दंड भोगना पड़ रहा है शरीरके कैदमें रहना पड़ रहा है। सर्व विपदावोंका मूल मोहभाव है परको अपना बनाने की बुद्धि रूप डकैती है। तथा सर्वशान्तिका मूल मोहसे विपरीत यथार्थ आत्मतत्त्वकी प्रतीति है। इस आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके बिना यह जीव स्वयं ज्ञानसुखका भण्डार होते हुए भी अज्ञानवश बाह्य अर्थोंसे ज्ञान व सुख चाहता फिरता है, इसी कारण महासंक्लेश सहता है। बाह्य अर्थोंसे ज्ञान व सुख चाहना बाह्य अर्थोंको अपना मानना है। सो यह बहिरात्मा इष्ट विषयोंमें राग और अनिष्ट अर्थोंमें द्वेषको करके क्षोभको प्राप्त होता रहता है। ये वस्तुयें स्वयं न इष्ट हैं न अनिष्ट हैं किन्तु हत्यारी इन्द्रियोंके विषयके वशसे पदार्थोंमें दो तरह का भाव मोहीने बना लिया है जो इन्द्रियद्वारसे इष्ट है उसे इष्ट कल्पित किया गया और जो इन्द्रियद्वारसे अनिष्ट है उसे अनिष्ट कल्पित किया गया। जैसे पुलका बांध एक है यदि वह बड़े वेगसे बहते हुए जलके भारके वेगसे आहत हो जाय तो वह बांध दो रूपसे विदीर्यमाण हो जाता है इसी तरह पदार्थ अद्वैत है

जैसा है सो है, उसमें इष्ट अनिष्टपनका भावरूप द्वैत नहीं है किन्तु मोह के वेगका पदार्थोंमें जब घात होता है अर्थात् मोहका प्रहार होता है तब मोहके विषयभूत पदार्थ दो तरह अनुभूत होता है कोई इष्ट कोई अनिष्ट, अथवा यह आत्मा दो प्रकारसे विदार दिया गया १-रागभावरूप २ द्वेषभावरूप। क्योंकि पदार्थ तो विदारा नहीं जाता यह आत्मा ही दो भावरूप होजाता है। इस तरह बहुत संक्लेश -क्षोभको- प्राप्त होता है। अतः मोहके स्वभावको जानकर भूमिकावोंकी पहिचान करना चाहिये कि मोह मोह, राग, द्वेषके भेदसे तीनभूमिकावाला है इनमें मोहतो मूल है उससे राग द्वेषकी पुष्टि है। यह मोह तो दर्शनमोहके विपाकको निमित्त पाकर प्रादुर्भूत होता है और द्वेष-क्रोध, मान, अरति, शोक, भय व जुगुप्साके विपाकको निमित्तपाकर प्रादुर्भूत होता है, तथा द्वेष राग माया, लोभ, हास्य, रति व वेदके विपाकको निमित्तमात्रपाकर प्रादुर्भूत होता है। इनसबके विनाशका उपाय भेदविज्ञान है भेदविज्ञान स्वभाव विभावकी परखसे होता है स्वभावकी परख अरहंतको द्रव्य गुण पर्यायसे जाननेसे होती है।

यहां यह जानना कि जो त्रिभूमिक मोहमें पड़े हैं वे दान पूजा सत्कारके योग्य नहीं किन्तु दयाके पात्र है और जो त्रिभूमिक मोहसे उठ गये हैं निज शुद्धात्मरुचिरूप सम्यग्दर्शनसे स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञानसे निर्मल निश्चलनिजात्मानुभूतिरूप सम्यक्चारित्रसे विभूपित हैं और व्यवहार मोक्षमार्गके पथिक हैं वे दान पूजा सत्कारके योग्य हैं तथा जो अत्यन्त निर्मल हो गये हैं वे स्वभावसे एकमेक किये जानेकी शैलीसे निरन्तर उपासनीय अराधनीय हैं। इसतरह जिनके विनाशसे शुद्धावस्था होती है उस त्रैभूमिक मोहका वर्जन हुआ।

अब मोहको अनिष्ट का कारणपना बता करके मोहके विनाशको आमन्त्रित करते हैं—अनिष्ट कार्य आकुलता है क्योंकि जीव की और कितनी ही अवस्थायें हों चाहे परिस्पंद हो ज्ञान कम हो कितनी ही बातें हो वह सब अनिष्ट नहीं है एक आकुलता ही अनिष्ट है उसका कारण मोहभाव

ही है। अपने कार्य अपनेसे भिन्न क्षेत्रमें नहीं है अन्यद्रव्यमें नहीं है परकीयपरिणतिमें नहीं है परकीयगुणोंमें नहीं है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतःसिद्ध अखण्ड परिपूर्ण सत् है। अतः ऐसे कार्य मेरे गुणोंकी ही परिणतियां हैं उनमें जो आकुलतामय हैं वे अनिष्ट है और जो अनकुलता के उन्मुख हैं वे अभीष्ट हैं उनका कारणपना साधकतमत्त्व निश्चयतः उस कालके भावमें है। आकुलताका कारणपना मोहभावमें है अतः मोहके विनाशका उपदेश करते हैं।

मोहेण व रागेणव दोसेणव परिणदस्स जीवस्स
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइ दव्वा ॥८४॥

मोह व राग व द्वेषसे परिणत हुए जीवके नानाप्रकारका बंध होता है इस कारण वे अर्थात् मोह राग द्वेष क्षपित कर दिये जाना चाहिये। आत्मा एकाकी है उसका सुख दुःख उसके उत्तरदायित्त्व पर है। मोह राग द्वेषके समय जीवकी परिणति परलक्ष्य पूर्वक होती है परलक्ष्यमें कर्मबंध होता ही रहता है। कर्मबंध ऐकान्त अनिष्ट है अहो जब मेरा कहीं कुछ नहीं, सुख दुःखका भी कोई सहाई नहीं, तब परलक्ष्यकृत विकल्पोंसे मेरा क्या भला है ? मैं तो निज स्वभावमें लीन रहूं। स्वभावका विकास स्वाधीन है मधुर शांतिप्रद है इससे विपरीत विभाव (मोहराग द्वेष) का स्वभाव पराधीन है निमित्ताधीन संयोगाधीन दृष्टि में है, कटु और अशान्तिप्रद है। जो द्रव्यगुण पर्यायमें यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति नहीं करता है परस्पर किसीका किसीसे सम्पर्क मानता है ऐसे उस विवेकज्ञानसे रहित बहिरात्माके नानाप्रकारका बंधन होता है।

जैसे वनमें हस्ती पकड़नेका यह उपाय किया जाता है कि पकड़नेवाला एक छोटी खाई खोदता है उस पर कागज बिछाकर कागजकी झूठी हस्तिनी बनाता है और एक ओर झूठा हस्ती बनाता है जो हस्तिनी की ओर दौड़ता हुआ चित्र वाला होता है वहां वनको हस्तीके मोह, राग,

द्वेषकी इस प्रकरणमें कैसी परिणति है इसका वर्णन करते हैं-प्रथम तो उसे यथार्थता का ज्ञान नहीं है तृणपटल कर आछन्न भूंठी हथिनी को सत्य हथिनी समझता है और उसके शरीरमें आसक्त हो जाता है, यह हाथीके मोहभावकी परिणति है क्योंकि मोहमें २ बातें होती हैं १ तो यथार्थता का अज्ञान, २ गृद्धता। हाथीको उस गड्ढे का यथार्थ बोध नहीं है और यथार्थज्ञानके अभावमें परमें आत्महितकी बुद्धि हो जाने से गृद्धता हो गई है वह मोह है। गृद्धता रागका रूप है उसीमें राग है उसकी तीव्रता का बल देने वाला मोह है। जो करेणु कुट्टिनीमें वनहस्ती का राग है प्रेम है वह राग परिणति है। तथा दौड़ते हुए दूसरे हस्ती को देखकर उससे द्वेष हुआ कहीं यह पहिले न आजाय यह द्वेष हुआ इन तीनों मोहकी भूमिकावोंमें चलने वाले हस्तीके बंधन हो जाता है अर्थात् हस्ती उस गड्ढेपर आकर प्रवृत्ति करता है और गिर जाता है गिरने के बाद वह निःशक्त होता हुआ बंधनमें कर लिया जाता है वस्तुतः बंधन तो उसका तब ही से है जब मोह रागका प्रवाह हुआ फिर गड्ढे के बंधनमें आया और पुनः पकड़ने वालेके आधीन होगया।

इसी प्रकार इस जीवकी भी व्यवस्था है। वहिरात्माको द्रव्य गुण पर्यायका यथार्थ ज्ञान नहीं है निजद्रव्यको निज, अन्य सबको पर, निज शक्ति निज, अन्य सर्व शक्ति पर, निजपरिणति उसकालमें निजव्यक्ति, अन्यपरिणति सब पर इसप्रकार स्वतंत्रताकी प्रतीतिके विरुद्ध पराधीन स्वरूप मानना मूढ़ता है। इसही मूढताकेकारण वहिरात्माके रागमें तीव्रता रहती है वह पर्यायको ही निजवस्तु मानता है। अनित्य क्षणिक परिणतियों को निजस्वभावरूप मानता है। यह वहिरात्माकी मोहपरिणति है। इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थोंमें प्रेम होता है और इसीके लिये अनवरत प्रयत्न करता रहता है यह है वहिरात्माका राग। निजमें सुखका सम्बन्ध नहीं ऐसे भूंठे कल्पित मिथ्यारूप सुखाश्रय पदार्थों के सम्बन्ध में जुड़ता है। यह उसका राग है इसमें मोहका प्रबल बल है। उस माने हुए सुखविषयों में कोई बाधा देवे तब उस बाधक को द्वेषी समझकर उससे द्वेष करता

है। इस प्रकार तीन भूमिकावोंमें स्थित मोहके वश होकर जीवके नाना प्रकारका बंध होता है। वस्तुतः शुभोपयोग और अशुभोपयोग ही बंधन है। शुद्धोपयोग मोक्ष है। शुद्धोपयोग के बलसे जीव प्रदेश और कर्म प्रदेशोंका अत्यन्त वियोग हो जाता द्रव्य मोक्ष है इन दोनों प्रकार से मोक्षसे विपरीत लक्षण वाला यह बंध है। बंध नारक आदि दुःखोंका कारण है। इस आत्माका स्वभाव स्वयं सुख और ज्ञानसे परिपूर्ण है फिर भी अपनी असावधानीसे अपनी महत्ताको भूलकर दुःखका पात्र हो रहा है। यह बंध ही सर्व दुःखोंका मूल है।

इसलिये मोक्ष चाहनेवाले जीवोंको अर्थात् संसारके दुःखोंसे छूटनेकी इच्छा करनेवाले जीवोंको इन मोह राग, द्वेषोंको भले प्रकार जैसे निर्मूल हो जांय वैसे क्षपकर नष्ट करदेने चाहिये। मोहभाव तो अन्तर्मुहूर्तमें कस कपकर स्थिति अनुभाग घात संक्रमण आदि विधियोंसे नष्ट किया जाता है तथा राग द्वेष स्थूलतया सम्यक्त्वकाल तक छद्मस्थ अवस्थामें नष्ट किया जाता है और सूक्ष्मतया अनिवृत्तिकरण परिणामों द्वारा ? अन्तर्मुहूर्तमें (कई अन्तर्मुहूर्त जिसमें गर्भित हैं) संक्रमण स्थिति घात अनुभाग गति आदि विधियोंसे कस कसकर नष्ट कर दिया जाता है। यह भावरागभावद्वेपके निमित्तभूत द्रव्यराग द्रव्य द्वेपकी क्षयकी प्रक्रिया है इसीके अनुरूप भावराग व भावद्वेष भी नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार सत्याभिलाषियों को राग द्वेपका क्षय कर देना चाहिये। रागद्वेष के क्षयका प्रधान मूल उपाय यह है कि वर्तमानमें उदित विभावों से भिन्नस्वरूपवाले निजचैतन्य स्वभावकी दृष्टि रखे। यही किया जा सकता है यही करने योग्य है।

अब इन मोह रागद्वेष को पहिचानने के प्रधान चिह्न बतलाते हैं जिनसे मोह राग द्वेपको पहिचानकर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिये। सर्व प्रथम तो जो अहित है जिससे मुक्त होता है उसकी पहिचान आवश्यक है उसे पहिचानकर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिये। मोह रागद्वेष उत्पन्न होने के बाद इनकी परम्परामें ये बने रहते हैं तब इनका

स्थान बन जाता है तथा उत्पन्न होते ही यदि शीघ्र नष्ट कर दिये जांय तब संस्कारके अभावसे ये क्षयको प्राप्त हो जाते हैं। इस कारण आचार्य श्री कुंदकुंददेव मोह रागद्वेषके क्षयके प्रयोजन के अर्थ इनके चिह्नों को बताते हैं—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु अप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥८५॥

समस्त पदार्थ यद्यपि स्वतंत्र अपने अखंड सत् में स्थित हैं तब भी विपरीत अभिप्रायवश परतन्त्र दृष्टिसे अयथार्थ ग्रहण करना तथा उपेक्षायोग्य होनेपर भी तिर्यञ्च मनुष्योंमें दयापरिणाम, आत्मीयपरिणाम, अथवा दयाका अभावरूप परिणाम ये सब दर्शन- मोहके चिह्न हैं। तथा इष्ट विषयोंमें प्रीतिरूप परिणाम रागभावका चिह्न है और अनिष्ट विषयों में अप्रीतिरूप परिणाम द्वेषभावका चिह्न है। दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यात्वभाव है जिससे वस्तुके स्वरूपसे विरुद्ध स्वरूपका ग्रहण होता है। वस्तु अनादि अनंत स्वतंत्र अखंड है किन्तु मिथ्या दृष्टि अनादि न समझकर [illegible]दृष्टि ही सर्वस्व रखने से सर्वथा सादि प्रतीत होता है, अनंत की [illegible]की जगह सान्त प्रतीत होता है। स्वतंत्र के स्थान में संयोगाधीन दृष्टि से परतंत्र देखता है। अखंडके स्थानमें खंड पर्याय मात्र देखता है। यह अर्थके विषयमें अयथार्थ ग्रहण मिथ्यात्व के उदयमें होता है अतः ऐसी बुद्धि होना दर्शनमोहका लिंग है। इसीतरह जिनमें ममत्व है ऐसे तिर्यंच मनुष्योंमें प्रीति करुणा का विशेष हो यह भी दर्शनमोह का चिह्न है। जगत के समस्त जीवपर होनेसे उपेक्षाके योग्य है किन्तु मोही जीवका जिनमें ममत्व रहता है उनमें विशेष प्रीति पैदा होती है तथा उनके कष्ट आदि आनेपर तीव्र अनुकम्पा का भाव उत्पन्न होता है यह सब दर्शन मोहका चिह्न है। मिथ्यात्वके उदयमें अत्यन्तभाववाले पर चेतन अचेतन पदार्थोंमें आत्मीयताकी कल्पना होने पर उन पदार्थोंकी क्षति में महान् संक्लेश-अनुकम्पन करता है यह दर्शनमोहका चिह्न है क्योंकि इस

वातावरण का मूल दृष्टिकी भूल है। इस मोहके अथवा मोहके संस्कारके वेगसे पदार्थोंके संबंधमें २ प्रकार की धारणा धारा हो जाती हैं? तो जो विषय रुचगये उनमें प्रीति पैदा होती है और दूसरे जो अरुचिर हुए उनमें द्वेष पैदा हो जाता है।

यहां करुणाभाव शब्द दिया है जिसकी संधि तोड़ने पर करुणा-अभाव अर्थात् तिर्यंच मनुष्योंपर करुणा का अभाव होता यह अर्थ निकलता है यह दर्शन मोहका चिह्न है। इस मोही जीवके करुणा करने पर या करुणा के विपरीत होने पर उस परिणामरूप पर्यायसे भिन्न ध्रुव ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्वका श्रद्धान नहीं है इसी कारण दर्शन मोहका चिह्न है। विषयोंके प्रसंग अर्थात् प्रकर्षरूपसे सङ्गमें भी यही बात है इष्ट विषयों का रुचजाना राग है और अनिष्ट विषयोंकी अरुचि द्वेष है तथापि उस कालमें उस पर्याय स्वरूपसे प्रथक् स्वभावमय निज आत्मशक्ति का श्रद्धान न होने से पर्याय दृष्टि हो जाती है वहां वह राग द्वेष चारित्र मोह है पुनरपि दर्शनमोहका चिह्न हो जाता है। दर्शनमोहकी शल्य विकट शल्य है इस शल्यमें व्रत के भाव नहीं ठहर सकते। व्रत आदि पालन करते हुए भी कोई अतिचार हो जावे तो उस साधारण अतिचार भाव के अप्रकट बने रहने की शल्यमें अन्य प्रवृत्तियाँ लोकविरुद्ध कर देनी पड़ती है तथा चित में संक्लेश रहता है यहां यह दृष्टि मोह है कि हमारी इतनी बड़ी प्रतिष्ठा है इसमें यह न जाने लोकोंकी दृष्टिमें कितना बड़ा रूप धारण कर लेवे और प्रतिष्ठा समाप्त हो जावे।

यहां पर्यायको ध्रुव आत्मा बना देने की दृष्टि मोह है। संसार दुःखोंका मूल केवल भ्रम है दृष्टि मोह है। दृष्टि मोहके संस्कार वश दृष्टि मोहके रहते हुए या न रहते हुए जो वृत्तियां रह जाती हैं वे राग और द्वेष हैं। हां इतना अन्तर अवश्य है कि दृष्टि मोहके क्षय हो जाने पर राग द्वेष जल्दी ही समूल नष्ट हो जाते हैं। यहां इन चिह्नों से पहिचान करने का प्रयोजन इन सबको दूर करना मात्र है। मोह राग द्वेष को मिटा देना इनकी पहिचान का प्रयोजन है। शरीर में हूं, स्त्री पुत्रादिक

मेरे हैं, धन वैभव मेरा है, मैं अन्य को सुखी दुःखी कर सकता हूं, शुभ रागसे वीतरागता हो जावेगी आदि दृष्टियां दृष्टि मोहके चिह्न हैं। आत्म समाधान का चिन्तन रहते हुए भी कर्मोंके विपाककी प्रेरणासे इष्ट अनिष्ट परिणाम होता मिथ्यात्व रहित राग द्वेष है और आत्मभाव के विना इन्हीं परिणामों रूप आत्मबुद्धि का बना रहना मिथ्यात्व सहित राग द्वेष है। इन्हें पहिचान पहिचान करके नष्ट करो। जैसे लोकमें कहते हैं कि शत्रु का एक व्यक्ति बना रहना भी खतरा है अतः शत्रु को पहिचान पहिचान कर मारो इसी प्रकार यहां परमार्थ प्रकरणमें भी कहते हैं कि आत्माके शत्रु स्वरूप मोहराग द्वेष भावोंको पहिचान पहिचान करके मारो। इस तरह पूर्व गाथा में कहे हुए त्रिभूमिक मोह को स्थूलव्यवहार की प्रवृत्तियों से पहिचान कराकर आचार्य महाराज इस त्रिभूमिक मोहके विनाशका उपदेश देते हैं अर्थात् विनाश का विनाश अथवा अविनाश रहने का उपदेश देते हैं।

इन राग द्वेष मोहके परिज्ञानके अनंतर ही इनके विनाशका उपाय बनता है। वह उपाय रागद्वेष मोहसे प्रथक् ज्ञाता द्रष्टा रूप निज आत्मा की भावना है उस उपयोगसे परिणत होता है। इस प्रकार द्रव्य गुण पर्यायकी शैली से अरहंत प्रभुके ज्ञानको मोहक्षयका उपाय बताकर अब मोहक्षयका उपायान्तर बताते हैं—उपायान्तर को आलोचित करते हैं यहां आलोचना से प्रयोजन अपने आपमें उतरी हुई बात को प्रकट करनेसे है। वह मोह क्षपणका उपायान्तर यह है—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥८६॥

जिनेन्द्र देव द्वारा प्ररूपित शास्त्रोंसे पदार्थोंको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जानने वाले जीवके विपरीत अभिप्राय को करने वाले मोहका क्षय होजाता है अतः शास्त्रोंका भले प्रकार अध्ययन करना चाहिये। इस अवसर में पहिले मोहक्षयका उपाय द्रव्य गुण पर्याय से अरहंत को जानना बताया

था यहां अब यह दूसरा उपाय शास्त्र अध्ययन बताया जा रहा है। अथवा यह समझना चाहिये कि पूर्व उपाय इस उपाय की अपेक्षा करता है क्योंकि सबसे पहिले कुछ ज्ञान करना आवश्यक है उसका साधन जिन शास्त्र है। जिनशास्त्रका अध्ययन करने वाला भव्य उसको वाच्यभूत अर्थोंको जानकर उसमें भी आत्मतत्त्वको जानकर वह भी द्रव्य गुण से जैसे शुद्ध है वैसे पर्याय से भी शुद्ध हो उसे जानकर अपने ज्ञानोपयोग की निर्मलता द्वारा मोहका विनाश कर लेता है। क्योंकि जो जीव पहिले पहिले ही ज्ञानमार्ग में कदम रखने को होता है उसको जिनशास्त्र का आलंबन ही अलंबन बन जाता है। वे जिनशास्त्र सर्वज्ञके मूलसे प्रवाहित हुए हैं अतः प्रमाणभूत हैं यथार्थ हैं इसका परीक्षण इस दीवालसे हो जाता है कि जिन सिद्धान्त में कहीं भी बाधा नहीं आती है जो वैज्ञानिक विषय है वह विज्ञानसे सही उतरता है जो स्वसंवेदनका विषय है स्वसंवेदनसे यथार्थ उतरता है। ऐसे अवाधित प्रमाणभूत आगम को प्रमाण मानकर भव्यजीव निजक्रीडा करते हैं परलक्ष्य छोड़कर निजदृष्टिसे विहार करते हैं उनके उस जिनशास्त्राभ्यास के संस्कारसे स्वसंवेदन शक्तिरूप संपदा प्रकट होती है जिसके बलसे शुद्धात्मसंवेदन में सफल होता है।

जीवकी संपदा स्वसंवेदन शक्तिकी व्यक्ति ही है। जो प्रकट भिन्न है अत्यन्ताभाववाले हैं वह संपदा तो क्या परलक्ष्यका विषयभूत होनेसे आकुलतारूप विपदा का निमित्त होनेसे विपदा ही है। मोहके वेगमें विपदा भी संपदा आसकती है और यथार्थ संपदाकी खबर भी नहीं रहती। जिन जीवोंके स्वसंवेदनरूप संपदा का विकास होता है उनके प्रत्यक्ष व अनुभवादि द्वारा पदार्थके याथातथ्यका विज्ञान हो जाता है। यहां जिस पर पदार्थका विज्ञान हुआ वह कहीं आनंददायक नहीं किन्तु जिस अभिन्न ज्ञान शक्तिके विकाससे ज्ञप्ति हुई वह विकास आनंद देनेवाला है। मोक्षमार्ग सहृदय विवेकी जनोंको ही रुचता है। विद्वज्जनोंके चित्तको आनंद देने वाला ज्ञानमार्ग है ऐसे इस प्रमाण समूहसे भव्यजीव समस्त पदार्थ समूह को जानते हैं और ऐसे ज्ञानीके ही अतत्त्व–विपरीत अभिप्राय

के पोषक मोहभावका क्षय होता है। इससे यह प्रकट सिद्ध है। कि मुमुक्षुको शान्त्यभिलाषीको सर्व प्रथम आगम की उपासना करना चाहिये। शास्त्राध्ययन के बिना एक इस द्रव्य गुण पर्यायको अथवा शुद्धद्रव्यको कैसे जानेगा। शास्त्राध्ययन करने वाले के कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है शुद्धोपयोग की पहुँच मोहके विनाश का यथार्थ उपाय है। अरहंतदेवकी भक्तिके समय भी जो वीतरागता की पहुँच है वह तो निर्जरा का उपाय है किन्तु जो परलक्ष्य अथवा भक्तिरूप शुभराग है वह पुण्यकर्म सही कर्म बंधका निमित्त है।

यहाँ प्रश्न होता है कि पहिला उपाय तो शास्त्राध्ययन बताया जो मात्र ज्ञप्तिकी विशेषता होने से निर्जराका कारण है उसके पश्चात् दूसरा उपाय उत्पन्न होता है जो अरहंतको द्रव्य गुण पर्यायसे जानना ही सही परलक्ष्य अथवा भक्ति रूप होता है ऐसा विषम नश्वर कैसा? इसका समाधान यह है कि कर्मनिर्जरा की बात तो साधक की योग्यतापर निर्भर है—यहां शास्त्र स्वाध्याय करता हो व उद्देश्य विपरीत रखता हो वाद आदिक प्रयोजन हो तब निर्जरा क्या उल्टा पाप का कारण हो जाय और अर्हद्भक्तिमें गुणोंपर ही दृष्टि होनेसे द्वेषदृष्टि, विषय, कषाय आदि अनेक अशुभोपयोग दूर हो जाते हैं वहां कर्मनिर्जरा हो जाय। बहुधा शास्त्रस्वाध्याय इष्ट अनिष्ट बुद्धिसे रहित होकर हो तो वह कर्मनिर्जरा का विशेष कारण है परन्तु पहिले ही पहिले जो मोक्षमार्गमें कदम रखना चाहता है उसे शास्त्रज्ञान तो कुछ चाहिये ही अतः द्रव्य गुण पर्यायसे अरहंतको जानने रूप मोह क्षपणके उपाय से प्रथम उपाय भले प्रकार शास्त्रका अध्ययन—शब्दब्रह्म का उपासन है। भावज्ञान पूर्वक दृढविश्वास अध्ययन अवश्य मोहक्षयको कर देता है।

जब यह भव्य जीव सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्रणीत शास्त्रों के अध्ययन से यह जानता है कि मैं रूप रस गंध स्पर्श से रहित चैतन्यमय एक अकेला अविनाशी आत्मा मानस प्रत्यक्षमुखसे हूं तदनंतर इसही भावना के विशेष अभ्यास के बलसे निर्विकल्पप्रत्यक्ष बलसे इसही आत्मा का

संवेदन करता है पुनः जो शुद्ध निरंजन हो गये हैं ऐसे अरहंत भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व पर्यायत्वसे जानकर अपनी समानता पहिचानते हैं वे भव्यजीव अवश्य मोहके क्षयको करते हैं। मोहक्षयसे आत्मविशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़कर अंतमें अंतिम पाक पर उतरे हुए सुवर्णकी भांति निर्मल हो जाते हैं। आत्मनिर्मलता ही सर्वोत्कृष्ट वैभव है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रमय मोक्षमार्गके प्रवेशके अर्थ मोक्षार्थीको आगमका अभ्यास करना चाहिये। आगमाभ्यास अध्यात्म विकासके अर्थ हैं प्रत्येकज्ञानके साथ आत्महितका विवेक बना रहे ये तो आगमाभ्यासीको आगमाभ्यास प्रयोजनवान है।

तीन लोक की रचना सुनकर भव्यजीव सोचता है कि अहो आत्मोपलब्धिके विना ऐसे विविध स्थानोंमें जन्म मरणके क्लेश सहे। जीवोंकी अवगाहनाका प्ररूपण सुनकर सोचता है कि स्वात्मस्थितिके विना सर्व दुःखोंके कारण रूप शरीरपिशाचको इस इस प्रकार लिये लिये रहना पड़ता कर्मस्थिति अनुभाग प्रकृति आदि वर्णनोंसे वह परकी ओर न झुक कर आत्माकी ओर झुकता है कि अहो स्वच्छ ज्ञातृत्वमात्र निज स्वभावमें स्थैर्य न होनेसें निमित्तनैमित्तकभावके फल स्वरूप कार्माण वर्गणावोंमें इस प्रकार स्थिति अनुभाग आदि हो जाते हैं जो आत्माके एकक्षेत्रावगाह में बद्ध रहते हैं। शुद्ध परमात्माका वर्णन सुनकर भव्यजीव यह निश्चय करता है कि अहो ऐसाही मेरा स्वरूप है विपरीत भावके समयभी स्वभाव तो ऐसा ही स्वच्छ ज्ञाता मात्र है वह कषाय परिणामोंसे मात्र तिरस्कृत है। आगमज्ञान द्वारा समस्त पदार्थोंको भव्य जैसी जिनकी सत्ता है उसी प्रकार जानता रहता है किसी अर्थका किसी अर्थके साथ एकता नहीं समझता। उसे दृढ धारणा है कि समस्त जातीय पदार्थ एक क्षेत्रमें रहकर भी वे सब अपनी अपनी व्यक्तियोंमें सत्त्व रखते हैं अन्य व्यक्तियोंमें नहीं। इस प्रकार वस्तुस्वातन्त्र्य, निजाभिमुखता, परोपेक्षा आदि सर्व भावोंकी दृढ़ता पोषनेवाला यह आगमाभ्यास भव्यजीवोंको नियमसे करना चाहिये।

यह मोहक्षयका उपायान्तर श्री कुंदकुंद आचार्य महाराज ने प्रदर्शित किया। अब जिस आगमाभ्यासके लिये श्री कुंदकुंदाचार्य महाराजका आदेश हुआ है उस जिनेन्द्रप्रणीत शब्दब्रह्म अर्थात् आगममें पदार्थों की कैसी व्यवस्था है इस बात का वितर्कण करते हैं—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया ।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्वत्ति उवदेसो ॥८७॥

इस गाथा की उत्थानिकामें पूछा गया था कि भगवत आगम में अर्थों की कैसी व्यवस्था है उन अर्थोंके विषयमें उत्तर देते हुए कहते हैं कि यहां अर्थ शब्द से द्रव्य गुण पर्याय तीनोंका ग्रहण हो जाता है क्योंकि इन तीनों की "अर्थ" संज्ञा है। इन तीनों में से द्रव्य क्या चीज है ? सो कहते हैं कि गुण और पर्यायोंका जो आत्मा है अर्थात् सर्वस्व है या स्वभाव है वह द्रव्य है। यद्यपि वहाँ द्रव्य गुण पर्याय ये अभिधेय अपना अपना जुदा स्वलक्षण रखते हैं तथापि जैसे इनकी सत्ता पृथक् पृथक् नहीं है वैसे ही इनका अभिधान भी एक "अर्थ" है। जैसे उस सत्को भिन्न दृष्टियोंसे देखने पर द्रव्य गुण पर्यायके रूपमें प्रतीत होता है वैसे ही अर्थ शब्दका व्युत्पत्तिभेद करने पर किसी अर्थसे द्रव्यका किसी अर्थसे गुणका किसी अर्थसे पर्यायका बोध होता है। अब इस ही बात को स्पष्ट करते हैं। अर्थ शब्द जुहोत्यादिगणीय ऋ धातुसे निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ प्राप्त करना व आश्रय करना है इस धातुके कर्तृवाच्यमें लट् लकारके अन्य पुरुषमें ऐसे रूप होते हैं इयर्ति इयृतः इयृति। तथा कर्म वाच्यमें रूप होते हैं अर्यते अर्येते अर्यंते। ऐसे रूपोंको बताकर इनका उपयोग करते हैं।

यानि गुणपर्यायान् इयृति अथवा यानि गुणपर्यायैः अर्यन्ते तानि द्रव्याणीति अर्थः। जो गुण पर्यायोंको प्राप्त हों आश्रित करें सो अर्थ हैं अथवा जो गुण पर्यायों द्वारा प्राप्त किये जाँय आश्रय किये जावें सो अर्थ हैं। इस अर्थ में द्रव्य लक्षित किये गये हैं। गुण पर्यायोंको पहुँचने वाला

द्रव्य ही तो है। यहां इस प्रकरणमें यह बात जानना चाहिये कि द्रव्य एक अखंड पूर्ण सत् होता है और वह प्रति समय वर्तना करता है जो प्रति समयकी वर्तना है वह पर्याय है चीज और चीज की हालत वे हालतें प्रतिनियत ही होती हैं अनियत नहीं एक दूसरे द्रव्यमें संकर दोष नहीं लाते। इसका कारण द्रव्यका स्वयंका स्वभाव है स्वभावको ही गुण कहते हैं। हालतें—पर्यायें जितने प्रकारसे होते हैं उतनी ही शक्ति या स्वभाव होते हैं इस तरह द्रव्य गुण पर्यायोंसे भिन्न नहीं है। तत्र गुण पर्यायोंसे जुदा द्रव्य क्या होगा इस लिये जो एकात्मक ध्रुव गुणपर्यायों का स्वभाववान् है वह द्रव्य है इसका फलितार्थ यह हुआ जो गुणपर्यायों को प्राप्त हो वह द्रव्य है अथवा गुण अन्य क्या हैं ? एक अखण्डसत् में अखण्डसत् को परखने के लिये मानित शक्तियाँ। तथा पर्याय क्या हैं ? उनकी वर्तमान अवस्था। वह अखण्ड एक सत् गुण पर्यायों द्वारा जाना जाता है आश्रित है प्राप्त है अतः उक्त व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थ नाम द्रव्यका है।

अब आगे गुण कैसे अर्थ नाम संज्ञित है इसे कहते हैं—ये द्रव्याणि आश्रयत्वेन इयूति अथवा ये आश्रयभूतैः द्रव्यैः अर्यन्ते इति अर्थाः गुणाः। जो द्रव्यों को आश्रय रूपसे प्राप्त करते हैं अथवा आश्रयभूत द्रव्योंके द्वारा जो आश्रयरूप होते हैं प्राप्त होते हैं वे अर्थ हैं इस अर्थमें अर्थ अभिधानसे गुण अभिधेय हुआ। गुण द्रव्य के आश्रय है क्योंकि अखण्ड एक सत् में स्वभाव परखा गया है।

अब पर्यायोंके सम्बन्धमें अर्थसंज्ञापर विचार करते हैं ये द्रव्याणि क्रमपरिणामेन इयूति, अथवा ये द्रव्यैः क्रमपरिणामेन अर्यतेते अर्थाः पर्याया इति यावत्। जो द्रव्योंको क्रम परिणमनसे आश्रय करें वे अर्थ हैं अथवा जो द्रव्योंके द्वारा क्रम परिणामनसे प्राप्त किये जावें वे अर्थ हैं इस व्युत्पत्तिसे अर्थ अभिधानसे पर्याय अधिधेय गृहीत किया। द्रव्योंमें परिणमन निरंतर होते हैं और प्रत्येक परिणमन एक समय रहते हैं अन्य समयमें अन्य परिणमन होता है पूर्ण परिणमन द्रव्यमें विलीन हो जाता है। इस तरह क्रम परिणमनोंसे पर्यायों ने द्रव्यका आश्रय किया अतः

पर्याय भी अर्थ है।

जैसे-सुवर्ण पीतत्व आदि गुणोंको और कुण्डल आदि पर्यायोंको प्राप्त होता है अथवा पीतत्व आदि गुणोंके द्वारा व कुण्डलादि पर्यायोंके द्वारा द्रव्य आश्रयभूत किया जाता है इसी तरह द्रव्य गुणों व पर्यायोंको प्राप्त होता है व गुण पर्यायोंके द्वारा द्रव्य आश्रयभूत किया जाता है। इस दृष्टान्त में सुवर्ण द्रव्यकी जगह समझना। तथा जैसे पीतत्वादिक गुण सुवर्णको आश्रय रूपसे प्राप्त करते हैं अथवा सुवर्णके द्वारा गुण आश्रियमाण हैं वैसे ही गुण द्रव्यको आश्रयरूपसे प्राप्त होते हैं अथवा द्रव्यके द्वारा गुण आश्रियमाण हैं। इस दृष्टान्तमें पीतत्वादिक गुणके स्थान पर हैं। तथा जैसे कुण्डलादिक पर्याय सुवर्णको क्रम परिणमनसे आश्रय करते हैं व सुवर्णके द्वारा कुण्लादिक पर्याय क्रमसे आश्रियमाण हैं वैसे ही पर्यायें द्रव्यको क्रम परिणमनसे आश्रय करते हैं तथा द्रव्यके द्वारा पर्यायें क्रमसे आश्रियमाण हैं। यहां कुण्डादिक पर्यायोंको पर्यायके स्थान पर समझना। यहां यह विचारिये कि क्यां पीतत्वादिक गुण व कुण्डलादिक पर्यायें सुवर्णसे भिन्न हैं? नहीं, तो पीतत्वादिक गुण व कुण्डलादिक पर्यायों का आत्मा ही तो सुवर्ण हुआ यहां आत्मा का तात्पर्य सर्वस्वसे है। इसी तरह विचार करें कि गुण और पर्यायोंसे पृथक् कोई द्रव्य है अथवा द्रव्यसे प्रथक् कोई गुण व पर्यायें हैं? नहीं तब गुण और पर्यायोंका आत्मा ही द्रव्य कहलाया। द्रव्य गुण पर्यायोंका निज अर्थ इस प्रकार है-१-अद्रु वन् द्रु वन्ति द्रोष्यन्ति पर्यायानिति द्रव्याणि। जिसके पर्यायों को प्राप्त किया व जो कर रहे हैं व करते रहेंगे वे द्रव्य हैं। अभेदरूपसे वस्तु द्रव्य है भेदरूप से अनेकगुण हैं।

गुणयंते द्रव्याणि एभिस्ते गुणाः जिनके द्वारा द्रव्य भेद रूप घने वे गुण हैं। "द्रव्यमेकमनेकात्मकम्" का भी भाव यही है द्रव्य अभेदरूपसे एक स्वरूप है व भेद दृष्टि से नानारूप है। इसी तरह पर्यायों को देखो-परि अयंते इति पर्यायाः जो स्वभावके ऊपर आते हैं वे पर्यायें हैं अर्थात् जो स्वभावके परिणमन हैं वर्तमान अवस्थारूप हैं क्षणिक हैं वे पर्यायें हैं।

ये पर्यायें भी द्रव्यकी हालते हैं अतः द्रव्य, गुण, पर्याय ये भिन्न भिन्न कोई सत् नहीं है सो द्रव्यसे पृथक् इनकी सन्तान होनेसे गुण पर्यायोंका स्वभावरूप द्रव्य है। अब इस ही द्रव्य, गुण, पर्यायके विवरणको शुद्ध निश्चयनयसे आत्मतत्त्वमें घटित करते हैं—जो अनन्तज्ञानसुख आदि गुणों को अमूर्तत्व अतीन्द्रियत्व सिद्धत्व आदि पर्यायोंको परिणमता है प्राप्त होता है वह अर्थ है यह तो द्रव्यको संकेत करने वाला अर्थ है। यहां यद्यपि अनंत ज्ञान अनंतसुख पर्याय है फिर भी शुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिसे गुणोंको भी शुद्ध पर्यायके अभिमुख रखकर देखा है। और इसी कारण व्यञ्जन पर्यायसे अधिक सम्बन्ध रखने वाले भावोंको पर्यायके स्थान पर प्रयोग किया है। यहां शुद्ध आत्मद्रव्यको द्रव्यके स्थान पर कहा है। अब गुणोंका वर्णन करते हैं—जो आधारभूत शुद्ध आत्मद्रव्यको प्राप्त करें आश्रय करें वे गुण हैं जैसे निर्मलज्ञान आदिक। इसी प्रकार पर्यायोंका स्वरूप है, अन्तर मात्र इतना है कि यहां क्रम परिणमन की मुख्यता रखकर सूक्ष्म दृष्टिसे क्षणिक परिणमनों को देखना है वह है सभी गुणोंके सिद्धत्व पर्याय। यहां द्रव्य गुण पर्यायकी परीक्षा करिये—द्रव्य अनादि अनंत अहेतुक है इसी कारण द्रव्य स्वतन्त्र है द्रव्यको ही भेददृष्टि से देखने पर गुण सिद्ध होते हैं वे गुण भी द्रव्यके स्वभावको रखते हैं वे भी अनादि अनंत अहेतुक हैं अतः गुण भी स्वतन्त्र है। इसी तरह वर्तमान मात्र पर्यायको देखो तो वह सादि सान्त होकर भी निश्चयसे अहेतुक है क्योंकि विशिष्ट पर्याय का कारण द्रव्य कहो तो द्रव्य तो अनादि अनंत एक स्वरूप है तब "कारणसदृशं कार्यं" इस नियम से पर्याय भी अनादि अनंत एक स्वरूप हो जायगी। यदि पर्याय का कारण गुणको कहो तो गुण भी अनादि अनंत अहेतुक है सो यहां भी यही आपत्ति आवेगी। यदि पूर्व पर्यायको कारण कहो तो वह तो विलीन होती है तव उत्पाद कहलाता है अभाव भावका कारण कैसे ? यह एक सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि है। वस्तुव्यवस्थामें तो पूर्व पर्याय संयुक्त द्रव्य वर्तमान पर्यायका कारण कहा है। इस तरह द्रव्य गुण पर्यायोंकी व्यवस्था जैनेन्द्र शब्द ब्रह्म में है। यह

जैनेन्द्र भागवत परमागम पूर्वापरविरोध रहित आप्तप्रणीत, प्रबलयुक्तिपूर्ण सर्व जगत का हितकारी है। इस परमागम का अभ्यास मोहक्षय का उपाय है। वस्तु स्वतंत्र है परस्पर पृथक् है। प्रत्येक वस्तु अपनी परिणतिसे ही परिणमता है, पर की परिणतिसे नहीं आदि सिद्धान्तों का मनन जिस चित्त में है उस चित्त में मोह नहीं ठहरता। अज्ञानभाव हटते ही मिथ्यात्व हट जाता है अथवा मिथ्यात्व हटते ही अज्ञान हट जाता है दोनों बल एक साथ चल रहे हैं।

इस प्रकार शिष्यके पहिले इस प्रश्न पर की मोह के जीतने का क्या उपाय है ? दो उपाय बताये। यहाँ शिष्य कमजोर या अज्ञानी नहीं है। ऐसे प्रश्न करने की उत्कण्ठा प्रबल और ज्ञानी के ही होती है वह इस ही उत्तर को मनमें दृढ़ बनाने के अर्थ आशंका रूपमें प्रकट करता है। उन उपायों का वर्णन करके अब आचार्य पुरुषार्थका व्यापार कराने की भावनासे कहते हैं- कि इस प्रकार मोहक्षय के उपायभूत जिनेन्द्र देवके उपदेशका लाभ होने पर भी पुरुषार्थ करना अर्थक्रियाकारी है अर्थात् जिनेन्द्रदेवके उपदेशको निमित्त करके आत्माका ज्ञान पाकरके भी जैसा आत्मस्वभाव जाना है वैसा ही स्थैर्य प्राप्त करने का पुरुषार्थ करे तब ज्ञाता द्रष्टा रहने रूप प्रयोजनकी सिद्धि है इसलिये आचार्य महाराज पुरुषार्थ करनेका व्यापार कराते हैं उद्यम करनेका उपदेश, उपाय बताते हैं-

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥८८॥

जो जिनेन्द्रप्रणीत उपदेश को पाकर भी अर्थात् जिनेन्द्रोपदेशको निमित्त करके निज ध्रुव ज्ञायकस्वभावके लक्ष्यसे स्वानुभवको प्राप्त करके भी यदि मोह राग द्वेष को नष्ट करता है वह यथाशीघ्र कालसे सर्व दुःखोंके मोक्षको प्राप्त करता है। यहां आचार्य महाराज, अपनी भी बात दरशाते जा रहे हैं और शिष्य भी अपनी बात सुनकर प्रमोदसे ध्यानी बन रहा है। जो स्वानुभवसे प्राप्त किया उसके कहने में ऐसी दृढ़ता होती है।

रागद्वेप मोहके विनाश करने पर फिर कुछ भी विलम्ब नहीं रहता इसलिए अचिरेण कालेन शब्दको कहकर आचार्य महाराज मानो हस्तगत मोक्षके विषयमें बात कर रहे हैं। मोक्ष छूटने को कहते हैं। आत्मद्रव्यमें अन्य द्रव्यका न मेल है न त्याग है। आत्मद्रव्यमें आत्मद्रव्यकी पर्यायका मेल है और उसका ही त्याग है। अन्यद्रव्यतो इस मेल व त्यागमें निमित्तमात्र है। मोह राग द्वेप पर्यायके मेलको संसार कहते हैं और मोह राग द्वेप पर्यायके विलीन होने को मोक्ष कहते हैं। यद्यपि स्थूलपने मोह के विनाश होनेपर मोक्ष होगया तथापि सर्व दुःखके कारण व रूप व फलोंके सर्वथा अभाव होनेकी विवक्षा यहां है जिससे अचिर काल फिर भी लग जाता है चाहे वह अन्तर्मूहूर्त ही हो। अर्थात् राग द्वेप मोहका मूलक्षय जहाँ अभिप्रेत है वहाँ अनंत सुखकी प्राप्तिमें अन्तर्मूहूर्तकाल लगता है और यदि साधारणतया लोकप्रसिद्धि के अनुसार (उपशम मंदोदय या क्षयोपशम) मोहरागद्वेपका हनन अभिप्रेत है वहां १५ भव तक का समय लग सकता है।

इस जीवने अनादिसे अपने इस एकत्वकी कथा ही नहीं सुनी भावना तो अनंतरकी बात है ऐसी अवस्थामें दुःखसे छूटनेका उपाय ही क्या होता। अनादिसे यह जीव निगोदमें रहा वहां एक स्पर्शनइंद्रिय था वह भी अव्यक्तसा। एक सेकिंड में करीव २३ बार जन्म मरण किया वहां का दुःख बड़ा कठिन है। जैसे किसी सुकुमार श्रेष्ठ पुत्रको सांकलोंसे कस दिया जाय मुंह नाक कान आंख बंद कर दिये जांय और दंड अनादि के अनेक प्रहार हों तो जिस दुःखकी वहां संभावना की जाती है उससे अनंत गुण दुःख निगोद जीवके से वहां जिनेन्द्रोपदेशश्रवण असंभव ही है। कर्मोकी मंदताको निमित्त पाकर जीव निगोदवाससे निकला तब पृथ्वी जल आग वायु प्रत्येक वनस्पति हुआ। वहाँ भी एकेन्द्रियकी ही दशा है। कुछ कर्मों की मंदता और हुई दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय चतुरिन्द्रिय हुआ ये सभी कर्णहीन है। कर्मोंका विशेष क्षयोपशम होनेपर पञ्चेन्द्रिय हुआ तब असंज्ञी होने पर लाभ ही क्या और सैनी हुए और क्रूर सिंहादिक हुए

तब घोर पाप करके नरकमें जा सकता है। नरकों में घोर दुःख। देवगति भी पाई तो वहां असंयम का संताप व परका ऐश्वर्य देखकर ईर्ष्याका ताप नहीं मिटा। मनुष्य गति में भी नाना भावके मनुष्य हैं। एक कल्याण की इच्छा रखने वाला ही मनुष्य प्रशस्तमार्ग का अधिकारी है। कल्याणेच्छुको जिनेन्द्रोपदेशका निमित्त प्राप्त होता ही है। आत्मा परमेश्वर है वह अनादिकर्मबद्ध होनेसे वर्तमानमें मलीन है तथापि वह जैसा भाव करता है वैसा योग प्राप्त कर ही लेता है। इस प्रकार दुर्लभसे दुर्लभ जिनेन्द्रोपदेशको प्राप्त करके भी यदि तलवार की धार के समान अमोघ इस जिनेन्द्रोपदेशको मोह राग द्वेपके ऊपर दृढ़ता निपातन करता है तब समस्तदुःखके मोक्षको (छुटकारेको) जल्दी ही प्राप्त कर लेता है। यह जिनेन्द्रोपदेश तलवार की धारके समान है। जैसे तलवार की धारका पानी निष्कंप है इसी तरह जैनेन्द्रवचन विरोध व भंग, कंपरहित है। जैसे तलवारकी धारको सावधान अभ्यस्त ही स्पर्श कर सकता है इसी तरह जैनेन्द्रोपदेशको सावधान पुरुष ही स्पर्श कर सफल है। जैसे तलवार की धारपर चलना कुशल व्यक्तियोंका काम है इसी तरह जैनेन्द्रोपदेशपर चलना कुशल निकट भव्यजीवोंका काम है। जैसे तीक्ष्ण तलवार की धारका जिस शत्रु पर निपात हो उसका विनाश हो जाता है इसी तरह जिनेन्द्रोपदेशका मोह राग द्वेप शत्रु पर निपात हो मोहादिक टिक नहीं सकते क्षत हो जाते हैं।

हे आत्मन् तेरे शत्रु मोहरागद्वेपभाव हैं और उनके विनाशी की उपायभूत ज्ञानधार भी तुझमें तन्मय है ज्ञानधारको संभाल अब देखता है? अनादि परम्परासे चले आये हुए मोहरागद्वेष शत्रुवों पर दृढतासे भावज्ञानका प्रहार कर दृढतासे कर अपनी सारी शक्ति लगाकर। यहाँ ज्ञान करण भिन्न नहीं है किन्तु आत्माको इस स्थिति में आने का उपदेश है कि आत्मन् पराश्रयदृष्टि छोड़कर निजात्मा की सम्यक्श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप ज्ञाता द्रष्टा की स्थितिमें रह अवश्य मलिन पर्याय विलीन होगी और तुम स्वयं अनंत सुखमय देखोगे। कार्य तेरे करनेका मात्र एक

यह ही है जिनेन्द्रोपदेशको निमित्तमात्र करके जो भावज्ञान-आत्मज्ञान हुआ है उसका मोह राग द्वेषपर प्रहार कर। जैसे जिसके हाथमें तलवार है पुरुष भी समर्थ है और तलवार भी तीक्ष्ण है यदि उसके सामने शत्रु आजाय और वह अपना बल आजमाये तब तलवार वाले का कार्य क्या है मात्र वही जो योद्धा करते हैं इसी तरह जिनेन्द्रोपदेश पाया उससे भावज्ञानकी भावनाके अवलम्बनसे भावक पुरुष भी समर्थ हुआ तब मोह राग द्वेष शत्रु जो सामने है उनके प्रति अब काम क्या है? केवल एक यह ही व्यापार जो आत्मज्ञान का निपात मोहादि पर करे। यहां निपात मात्र इतना है जो उपयोग में ज्ञान स्वभाव को स्थिरता से रक्खे।

यह अवसर अमूल्य है पुरुषकार बिना गमा देने में यदि कुमति हो तब स्वयं को पछतावा है अन्यथा ज्ञानी पुरुष तेरे प्रमाद को तेरे लिये पछतावेंगे, आत्मन् तू ज्ञानियोंके दुःखका कारण तो मत बन। समयका लाभ ले पर दृष्टि हटा कर निजात्मदृष्टिका दृढ अवलम्बन ले यही तेरी विजय का उपाय है। अहो इसही समय इस ही लिये मैं मोह के क्षपणके लिये सर्व आरंभसे सर्व शक्ति लगाकर मोहके क्षयणके लिये पुरुषार्थमें बैठता हूँ निजशुद्ध निरंजन आत्मतत्त्वके उपयोगरूप महान् पुरुषार्थमें बैठता हूं ठहरता हूँ। मुझे अन्य अब कोई बात सुनने देखने की नहीं है। यहां खड्ग रत्नत्रयका है रत्नत्रय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायका नाम है अर्थात् आत्माकी उस परिस्थितिका नाम है जहां निजशुद्धात्माका निश्चल अनुभव है और वीतरागता प्रवर्तमान है इस एक ज्ञानमात्र अनुभवनरूप खड्ग के द्वारा मोहरागद्वेषरूप बाह्यानुभव विभाव विलीन किया जा रहा है। यह कथन घात का है किन्तु अलंकार मात्र है परमदया का यहां वर्णन है। इस प्रकार आचार्य महाराज निकट भव्यजीवोंको प्रतिबोधते हैं कि जिनेन्द्रोपदेशका लाभ होने पर भी यदि शीघ्र मोह राग द्वेष का क्षय कर दोगे तो सर्वदुःखों से छुटकारा पालोगे। जो समझने को तैयार हैं समझते हैं उनके प्रति ही प्रतिबोधनेका व्यवहार होता है। यहां शिष्य भी यथार्थ रहस्य जानकर प्रतिज्ञासंकलपबद्ध हो

रहा है कि मैं सर्व आरंभसे मोहके क्षयके लिये पुरुषार्थमें ठहरता हूँ।

अब मोहक्षयका सिद्ध एवं अमोघ उपाय बताकर उस उपाय की सिद्धि के लिये आचार्य प्रयत्न करते हैं-आचार्यको तो वह उपाय सिद्ध हुआ है यहां तो शिष्योंके समझानेके तात्पर्यमें प्रयत्नका व्यवहार हुआ है। मोहक्षपण स्वरविभागकी सिद्धि से ही होता है। यह अनादि से परमें एकत्वका अध्यवसाय किये हुए प्रवर्त रहा है इस ही अध्यवसायसे मोहभाव पुष्ट हो रहा है इसके क्षयका उपाय स्वको स्व व परको पर समझना, मानना है। हे आत्मन् परसे अत्यन्त पृथक् निजचैतन्य शक्तिमय अपने आपकी स्वकृति तो कर। संसारमें परलक्ष्यमें इतना भटका क्या पाया? क्या हित साधा? अहित ही तो हाथ लगा। यह सुखशांतिका अमोघ उपाय है पर विपदामेंलीन प्राणीको अन्य कोई उपाय नहीं है शांतिका। एकमात्र भेद विज्ञान ही शरण है। उसही स्वपर विभागकी बात यहां करते हैं हे आत्मन् ध्यान पूर्वक सुन, मननकर, अङ्गीकार कर और महोल्लाससे सबसे अपनेको न्यारा देखकर पश्चात् विकल्पावस्थामें आये तो हां कर "यह ज्ञानमात्र ही मैं हूं"। श्रीमत् कुंदकुंद आचार्य इस ही विषयको लेकर स्वपरविभागकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं-

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहि संबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८९॥

जो निश्चयनय से भेदज्ञानका आश्रयकर स्वकीय ज्ञानभावमें तन्मय स्वयं को और परकीय भावमें तन्मय पर चेतन व अचेतनको पृथक् पृथक् रूपसे जानता है वह मोहके क्षयको अवश्य करता है। जो जैसा अवस्थित है उसे उस प्रकार ही समझना ज्ञानमार्ग है। मैं स्वकीय चैतन्यात्मक द्रव्यत्वमें तन्मय हूं और पर जो चेतन हैं वे उन्हीं परकीय चैतन्यात्मक द्रव्यत्वमें तन्मय हैं तथा जो पर अचेतन हैं वे उन्हीं अचेतन परकीय द्रव्यत्वमें तन्मय हैं ऐसा अखंड पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि रखकर जो परिच्छेदन करता है-विभाग करता हुआ जानता है वही भेदविज्ञानी है। मैं

रसरूपगंधस्पर्शरहित हूं, किसीद्रव्यके चलने ठहरने का निमित्तभूत नहीं हूँ, परिणमनका सहायक नहीं हूँ, अवगाहनका निमित्त नहीं हूं तथा अन्य चेतनके गुण पर्यायोंसे अत्यन्त पृथक् हूँ अतः मैं निजसत्त्ववान् द्रव्य हूं, अनादि से हूं, मैं किसीके द्वारा रचा गया नहीं हूं, स्वतः सिद्ध हूँ, पूर्ण हूं अखंड हूँ। मुझमें से न कोई गुण या परिणतिका बाहर विहार है और न मुझमें अन्य किसी सजातीय अथवा विजातीय द्रव्य के गुण या परिणतियों का प्रवेश है। मैं स्वतः अनंतशक्तियोंका पुञ्ज हूँ अनंत शक्त्यात्मक हूं स्वतन्त्र हूँ सर्व से न्यारा हूँ। इसी प्रकार सर्व द्रव्य भी अन्य सर्व से जुदे हैं। जगत के सभी पदार्थ अपने आपमें स्वयं की परिणतिसे परिणमते एक पदार्थका दूसरे पदार्थपर असर नहीं होता। हां मात्र अन्य द्रव्य को निमित्त मात्र करके स्वयं के असरको विकसित करके स्वयं परिणमता है।

जैसे दिखने में ऐसा लगता है कि सूर्य घट पर आदि अनेक पदार्थोंको प्रकाशित करता है किन्तु पहिले यह निर्णय तो करलो कि सूर्य कितना वड़ा है। सूर्यका जितना विम्व दीखता उतना वड़ा सूर्य है या जितना जगत प्रकाशमान हैं उतना वड़ा है? विम्व जितना सूर्य है तो विम्वसे वाहर सूर्य का असर नहीं, वाहर जो असर है वह सूर्य का नहीं जहां जो पदार्थ है उसही का है।

प्रश्नः—प्रत्यक्ष तो दीखता है कि यह सव सूर्यका प्रकाश है?

उत्तरः—सूर्यको निमित्तमात्र पाकर ये घट पट कांच वगैरह स्वयं अपनी अंधकार अवस्था को छोड़कर प्रकाश अवस्थाको प्राप्त हुए हैं अन्यथा फिर इसका क्या कारण होगा कि घट तो सामान्यतया प्रकाशित है और कांच जगमगरूपसे प्रकाशित है यदि सव सूर्य का प्रकाश है तो वह सर्वत्र एकसा होना चाहिये।

प्रश्नः—यह तो पदार्थ की योग्यता पर निर्भर है कौंच स्वयं अतिस्वच्छ है कि वहां सूर्यका प्रकाश महिमासे रह सकता है?

उत्तरः—वस यही तो हम कहते हैं कि पदार्थ योग्यता पर पदार्थ का प्रकाश

अवलम्बित है वहां सूर्य निमित्तमात्र है। दूसरी बात यह है कि जिस वस्तुका जो गुण है या पर्याय है वह उस वस्तुके प्रदेशों में ही आधारित है बाहिर नहीं। सूर्यबिम्बमात्र है उसका प्रकाश उसहीमें अवबद्ध है।

प्रश्नः—तब सूर्यकी किरणें नजर आती हैं तो क्या ये सूर्य की किरण नहीं हैं? आगम में तो सूर्यकी सोलह हजार किरणें बताई हैं।

उत्तरः—जो ये दीखते हैं वह सब प्रकाशमान स्कंध हैं आँखकी दृष्टिसे सूर्य तक ये पंक्तियां रूपसे नजर आती हैं। आगममें सूर्यकी किरणों का बताना सूर्यकी महिमासे तात्पर्य रखता है अर्थात् सूर्यमें १६ हजार पंक्तियों के स्कंधको प्रकाशमान करने की निमित्तपना है। इस निमित्तदृष्टिसे यह बात सिद्ध है कि सूर्यकी सोलह हजार किरणें हैं। सूर्य सूर्यमें है पटादि अपने स्वरूपमें हैं। यही बात मेरे विषयमें भी है मैं जगत के पदार्थों को नहीं जानता हूँ मात्र अपने स्वरूप को जानता हूँ क्योंकि ज्ञानगुण मेरा अभिन्न असाधारण गुण है उसकी क्रिया व उस क्रियाका कर्म मैं ही हूँ। ज्ञानका कार्य जानना है वह मेरे प्रदेशोंसे बाहर नहीं हो सकता।

अब यहां यह विचारना है कि ज्ञान जानता है तो जानता किसे है जो जानने में आवेगा वह कुछ न कुछ आकार रूप होगा तो इसका यह समाधान है कि ज्ञान निज ज्ञेयाकारों को जानता है। ये ज्ञेयाकार ऊट पटांग नहीं बन गये हैं ज्ञेय द्रव्य जैसा है वैसे आकाररूप ज्ञानको ज्ञेयाकारोंकी परिणति हुई। देखो ज्ञानकी कैसी महिमा है इतना बड़े विश्वका आकार देहमात्र असंख्य प्रदेशोंमें ऐसा समाया कि जानने में उतना ही बड़ा आ रहा है। यहाँ ये ज्ञेयाकार विश्वके किसी पदार्थसे नहीं आये किन्तु पदार्थोंको निमित्तमात्र पाकर ज्ञान से ही निकले ये ज्ञेयाकार ज्ञानमें पहलेसे भरे हुए नहीं थे किन्तु ज्ञानमें वर्तमान मात्र पर्याय से प्रकट हुए हैं। जैसे बाह्य समस्त वस्तुवोंको निमित्तमात्र पाकर दर्पण में

वैसा आकार होता है यह आकार वाह्य वस्तुवों से निकलकर नहीं आया किन्तु वाह्य वस्तुवों को निमित्तमात्र पाकर दर्पणसे ही आकार निकला। यह आकार दर्पणमें पहिलेसे भरा नहीं था किन्तु वाह्य समक्ष वस्तुवोंको निमित्तमात्र पाकर दर्पणमें वर्तनमानपर्याय मात्रसे प्रकट हुआ है। हां तो ज्ञानने इस निज ज्ञेयाकारको जाना जो ज्ञानगुणकी वर्तमान व्यक्ति है। ज्ञानने जिनको निमित्तमात्र पाकर निजज्ञेयाकार की सृष्टि की उन निमित्तभूतपर द्रव्यको नहीं जाना। मात्र व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानने घट पट आदि को जाना। इस व्यवहार का कारण यह है कि ज्ञानके विषयभूत ज्ञेयाकारों की रचना में निमित्तभूत या आश्रयभूत पर द्रव्य है।

इस प्रकार इस जीवके ज्ञानके ज्ञेयाकार को जो चेतन अचेतन वस्तु आश्रयभूत होता है उस पदार्थको अनादि मोहसे स्फारवश परिग्रह बना लेता है, और सम्बन्ध मानने लगता है। किन्तु मुझ स्वकीय चैतन्यात्मक द्रव्यसे सभी अन्य चैतन्यात्मक द्रव्य व अचेतन द्रव्य अत्यन्ता भाव वाले पदार्थ हैं। त्रिकालमें भी मेरा किसी पर द्रव्यसे सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार स्वकीय स्वकीय सत्ता की स्वतन्त्रता को देखकर जो निकट भव्य जीव वस्तुवों का स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप परिच्छेदन करता है वह ही भले प्रकार स्व और पर के विवेक को प्राप्त करता है और समस्त मोहका क्षय करता है। स्व पर विवेक विना मोहका क्षय नहीं होता। मोहके क्षयके विना आत्मशान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः मैं, यह स्वपरविवेक के लिये प्रयत हूँ। यहां इस संकल्पका यह भाव है कि जिस स्वपरविवेक को प्राप्त किया है उसकी दृढ़ताके लिये पूर्ण सावधान हूँ।

अब मोह के क्षपण करनेके उपायोंका वर्णन करके प्रधान उपाय जो स्वपर विवेक उसकी सिद्धि आगमसे होती है अतः आगम के लिये प्रेरणा करते हुए आचार्यदेव उपसंहार करते हैं-उपसंहार तो वस्तुत उप कहिये समीप में अपने आपसे सं कहिये भले प्रकारसे हरण करने धारण धारण करने को कहते हैं सो निश्चयतः तो आचार्य इस स्वपरविवेक सिद्धि

को अपने आपमें धारण कर रहे हैं, किन्तु परके निमित्त इस सिद्धिके उपायभूत आगमज्ञानके विधान को ध्यानमें रखकर पूर्वोक्तवर्णन का उपसंहार करते हैं—

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा॥९०॥

स्वपरभेदविज्ञानसे ही मोहका क्षय होता है इस कारणसे यदि निर्मोहभावको चाहते हो तो जिनमार्ग—जैनागमसे सर्व द्रव्योंमेंसे गुणोंके द्वारा अपने को और परको यथावस्थित जानो। ये छहों द्रव्य एक ही स्थानपर अवस्थित है तथापि सत्त्व सबका पृथक् पृथक् है। सहज शुद्ध चैतन्य स्वभाववाले मुझका जगतके किसी भी चेतन अचेतन पदार्थसे सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक द्रव्यमें अनंत गुण हैं उनमें प्रधान गुण अन्ययोगव्यवच्छेदक हैं अर्थात् प्रधान गुणों के द्वारा अन्य द्रव्य से प्रकृत द्रव्यका विभाग होता है। इसही विभाग से यथार्थ ज्ञानी मोहको नष्ट करने में कुशल होते हैं। सर्व द्रव्योंको परस्पर पृथक् पृथक् जानने का प्रयोजन यह है कि अपने आपके आत्माको सर्व द्रव्योंसे पृथक् जानना और स्वयं को ज्ञानमय अनुभव करना। यह मेरा अभिन्न चैतन्य स्वयं सत् अहेतुक है क्योंकि, है, जो वस्तु होती है वह स्वतः सिद्ध अहेतुक होती है मैं वस्तुभूत हूँ सो स्वतः सिद्ध ही हूं। जिनके अभिप्रायमें आत्मा व अनात्मा या किसी की किसी सृष्टा द्वारा सृष्टि हुई है वे पृष्टव्य हैं कि जो न था ऐसे कोई अपूर्व पदार्थकी सृष्टि हुई है या पहिले से सद्भूत पदार्थकी अवस्था मात्र वदली जाती हैं पहिले पक्षमें उपादान द्रव्य क्या है जगत में उपादान विना कुछ भी रचना नहीं देखी जाती है यदि सूक्ष्म उपादानभूत वस्तुको स्वीकार करते हो तव सत्ता स्वयं पहिले सिद्ध होगई यदि ईश्वर को उपादान स्वीकार करते हो तो सारी सृष्टिमें ईश्वरके चैतन्यादि गुण ही विकसित होना चाहिये और सब अनवच्छिन्न अखंड होना चाहिये। यदि सद्भूत पदार्थकी अवस्थामात्रको सृष्टि कहते हो

तब इष्ट ही है फिर तो केवल निमित्तमें ही विवाद है सो वैज्ञानिक शैलीसे इसका हल करना चाहिये ।

हां तो मेरा चैतन्य ही मैं हूँ जो चित्स्वरूप होनेके कारण अंतरंग व वहिरंगरूपसे प्रकाशक है अर्थात् स्व को और पर को जाननेवाला है ऐसा मेरा अभिन्न चैतन्य मैं हूं सो मैं इस मेरे समान जातिवाले चितस्वरूपी अन्य द्रव्योंसे व असमानजातीय अन्य द्रव्यों को छोड़कर मेरे आत्मा में ही यह वर्तमान है उसके द्वारा मैं अपने आपको ही जानता हूं। मैं समस्तकाल में रहने वाला ध्रुव हूँ । मैं उत्पादव्यययुक्त हूं मात्र ध्रुव कोई वस्तु नहीं है तथापि उत्पादव्ययवाले धर्म मुझमें सदा नहीं टिकते और मैं केवल किसी पर्यायमात्र नहीं हूँ अतः स्वभावकी दृष्टिसे देखनेपर मैं ध्रुव ही हूं । इस ही प्रकार जैसे सर्व अन्य द्रव्योंसे पृथक् मदीय चैतन्य गुणके द्वारा-जो कि सर्व द्रव्योंसे पृथक् अपनें स्वलक्षणसे मुझमें काँपकर रहता है-मैं अपनेको आवान्तरसत्तावान् निश्चित करता हूँ उसही प्रकार सब ही पदार्थ पृथक् पृथक् वर्तमान अपने अपने लक्षणों द्वारा जो अन्य अन्य द्रव्यों को छोड़कर विवक्षितउसही द्रव्य में रहते हैं-त्रिकाल रहने वाले आकाश धर्म अधर्म काल पुद्गल व जीवान्तर हैं ऐसा मैं निश्चय करता हूं पुद्गलका स्वलक्षण रूपरसगंधस्पर्शवती मूर्ति है । धर्मद्रव्यका स्वलक्षण जीव और पुद्गलकी गति का निमित्तभूत अमूर्ति असाधारण द्रव्यत्व है । अधर्मद्रव्यका स्वलक्षण जीव और पुद्गलकी स्थितिकी निमित्तभूत अमूर्तिक असाधारण द्रव्यत्व है। आकाशका अवगाहनहेतुत्ववान् असाधारण द्रव्यत्व है । कालका परिणमन हेतुत्ववान् असाधारण द्रव्यत्व है । इसलिये न तो मैं पुद्गल हूं न धर्म द्रव्य हूं न अधर्म द्रव्य हूं न काल हूँ और न जीवान्तर हूं । सर्व सत् परस्पर जुदे हैं । प्रत्येक द्रव्य अपनें गुणों में ही तन्मय हैं ।

जैसे अग्निका संयोग पाकर पात्रस्थजल गर्म हो जाता है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है तो भी अग्नि परिणति से जलने गर्म अवस्था धारण नहीं की किन्तु जलने की शीत पर्यायका तिरोभाव करके उष्णपर्याय

प्रकट की। गुरु शिष्य को पढ़ाता है वहां जो शिष्यज्ञानवान् बना वह गुरुके ज्ञानकी परिणतिसे नहीं बना किन्तु शिष्य स्वयं की ज्ञानपरिणतिसे ज्ञानी हुआ। एक द्रव्य से दूसरा द्रव्य पृथक् है इसका मूलकारण या लक्षण-चिह्न यही है जो एक की परिणतिसे दूसरा नहीं परिणमता। जैसे एक कमरे में १०—१५ दीपकोंका प्रकाश है वहां प्रत्येक दीपक का प्रकाश अलग अलग स्वरूप रख रहा है वहाँ से यदि ७—८ दीपक उठा लिये जावें तो उतने प्रकाश की कमी हो जाती है इससे यह प्रतीत है कि वहां १५ दीपकोंका प्रकाश भिन्न भिन्न है। इसी तरह लोकाकाशके किसी भी एक स्थान पर छहों द्रव्य है और जीव पुद्गल तो उनमें अनंतानंत है फिर भी वे सब पृथक् पृथक् ही हैं अपने अपने स्वरूपसे कोई च्युत नहीं है। यहाँ दीपक प्रकाश का दृष्टान्त लौकिकजनोंकी अपेक्षा दिया गया है। वास्तवमें तो दीपक प्रकाश दीपक से बाहर नहीं है दीपक जितना ही दीपक का प्रकाश है दीपक उतना कहलाता है जितना कि लौ है। उस दीपक को निमित्त पाकर जो स्कंध प्रकाश मान हैं उसके निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण दीपके प्रकाशका उपचार किया जाता है। वहां यह लगा लेना कि जैसे दीपककी परिणति से स्कंध प्रकाशमान नहीं है। दीपक को निमित्त पाकर स्कंधकी परिणतिसे ही स्कंध प्रकाशमान है उसी तरह एक द्रव्यकी परिणति से दूसरे द्रव्यकी कोई परिणति नहीं होती। स्कंधोंमें भी सभी स्कंध कमरे में एक स्थान पर होते हुए भी किसीकी परिणतिसे कोई नहीं परिणमता सब अपनी अपनी परिणमतिसे परिणमते हैं। एक स्कंध में भी और और दीपकों का निमित्त पाकर प्रकाश की श्रेणिमें अधिकता होती जाती है वहां उन श्रेणियों के निमित्त पृथक् पृथक् हैं उनको निमित्त मात्र पाकर प्रकाश के अविभागप्रतिच्छेद भी जुदे जुदे हैं किसीमें किसी का प्रवेश नहीं है। इन सब पृथक्त्वव्यवस्थानों के दृष्टान्तसे द्रव्यमें भी पृथक्तवव्यवस्था सुघटित समझ लेना चाहिये।

सर्व द्रव्योंके स्थानमें मिलकर अवस्थित होनेपर भी मेरा चैतन्य मेरे स्वरूपसे अप्रच्युत ही है यह स्वरूपसत्ता मुझे पृथक् ही बतलाती है।

इस तरह सर्व द्रव्य पृथक् पृथक् हैं अपनी अपनी स्वरूपसत्ता लिये हुए हैं स्वपरविवेकको निश्चित कर लेने वाले आत्माके विकार कारी जो मोहांकुर उसकी उत्पत्ति नहीं होती है अतः हे आत्मन् करने योग्य कार्य यह ही है कि दुःखके कारणभूत मोहभावका अभाव करने के अर्थ स्वपरविवेक करो और इस भेदविज्ञान को दृढ़ बनाओ।

अब जिनोदित अर्थ के श्रद्धान बिना धर्मलाभ नहीं होता इस बात का प्रतर्क करते हैं प्रकृष्टतर्क करके दृढ़ भाव बनाते हैं। जगत में सर्व अर्थ जैसे अवस्थित है वैसे ही जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत है। अनंत तीर्थंकरोंने अर्थके स्वरूपकी व्यवस्था ऐसी स्वतन्त्र सुनिश्चित बताई है। जैसे पदार्थों का स्वरूप नहीं बदलता वैसे ही जिनेन्द्रोपदेश भी अनादि परम्परासे सत्य ही चला रहा है वह भी नहीं बदलता। पदार्थ जैसे हैं उस प्रकार के श्रद्धान के बिना धर्मलाभ नहीं होता है। धर्म नाम आत्मस्वभावका है उसकी प्राप्ति पर पदार्थ व विभाव में आत्मीयता हटने से होती है यह भेद विज्ञानसे ही शक्य है। भेद विज्ञान के लिये जो पदार्थ जैसे हैं वैसे ही श्रद्धान की अवश्यकता है। सर्व पदार्थ अपने में अखंड सत्ता लिये हुए है द्रव्यकी पर्याय उस ही द्रव्य से उठती है इस प्रकार सर्व द्रव्य स्वरूप से ही अत्यन्त स्वतन्त्र है इस श्रद्धा में पर पदार्थ की सन्मुखता नहीं रहती है वहां धर्म आत्मस्वभावपर दृष्टि होती है वही धर्मलाभ है इस ही बातको आचार्य देव कहते हैं-

सत्तासंबद्धे दे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो सवणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥६१॥

सत्ताकरि संबद्ध विशेषस्वरूपकरि सहित इन द्रव्योंको जो नहीं श्रद्धान करता है वह द्रव्यसे मुनि पद में हो तो भी वह श्रमण नहीं है उस श्रमण से धर्म उत्पन्न नहीं होता। सन्मात्र की अपेक्षा किसी पदार्थसे किसी पदार्थकी विसदृशता नहीं है सभी सत् हैं है में क्या भेद? इसलिये सदृश अस्तित्व करिके सहित होनेसे सब द्रव्य सामान्यभाव को प्राप्त हो

रहे हैं फिर भी स्वरूपस्तित्व सबका जुदा है, ऐसे ही भिन्न स्वरूपको स्वतः लिये हुए पदार्थ अनादि से है अतः सर्व सविशेप हैं, परस्पर अत्यन्ताभाव को लिये है मैं सर्व से न्यारा स्वरूपी हूँ सर्व मुझसे अत्यन्त न्यारे स्वरूपी हैं इस प्रकार से जो भेद श्रद्धान नहीं करता ऐसा विवेक नहीं करता वह अपने श्रामण्य वेश से अपने आपको धोके में रखता है ठगता है वह श्रमण नहीं है यहां श्रमण का प्रकरण है प्रसंग है। वस्तु की सत्य श्रद्धा विना कुछ धर्मका वाह्य कार्य किया जावे उससे तो वह आत्मा अपने अपने आपको ठगता है क्योंकि मान्यता में यह बैठा कि मैं धर्मात्मा हूं और वहां धर्म संभाव नहीं है। सो यह बड़ी असावधानी है। इससे तो अविरत सम्यग्दृष्टिकी सावधानी देखो वह अव्रत अवस्थामें रहता हुआ अपनी स्थिति से घृणा रखता है अपनी किसी परिणति को ध्रुव आत्मा नहीं समझता।

मैं आत्मा अनादि अनंत अहेतुक ध्रुव एक ज्ञानस्वभावी हूं इस प्रकार भावना पूर्वक आत्मस्वभाव का अवलम्वन लेकर अपनी प्रतीति करे। क्षणिक परिणतियों को तो जब तक स्मरण है श्रमण अज्ञान श्रेणियों में टालता रहता है और यही प्रधान कारण है कि उसकी स्वरूप दृष्टि वहुत वहुत वनी रहती है। इसलिये धर्मलाभ उपाय भेदविज्ञान है और भेदविज्ञान का उपाय जैसे जैसे द्रव्य अपने अपने विशेप स्वरूप को लिये हुए हैं। स्वचतुष्टयसे सत् परचतुष्टयसे असत् वैसा श्रद्धान करना है। इसके विना धर्मलाभ नहीं होता। जैसे जिस न्यारिये को सोने के कण और रजके कणों का विशेपस्वरूप का विज्ञान नहीं है वह शोधक कैसे सोधक कहला सकता है—रेणु से भिन्न सुवर्ण कण को कैसे ग्रहण कर सकता है? नहीं पा सकता है इसी प्रकार। निजस्वभाव को और पर व परभाव को जो नहीं जानता है वह परके उपयोग को छोड़कर आत्म स्वभावका उपयोग कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता। राग द्वेष विभावों से रहित ज्ञायक स्वभावमय आत्मत्त्वकी उपयोग द्वारा उपलब्धि होना धर्मोपलब्धि है उसका वह पात्र नहीं है जिसे वस्तुस्वरूपका

यथार्थ श्रद्धान नहीं है। धर्म जहाँ से प्रकट होता है उसे जाने बिना धर्म कैसे प्रकट होगा। ..

धर्म वाह्य पदार्थ की देन नहीं है मेरा धर्म किसी वाह्य वस्तु में है ही नहीं तब वहां से कैसे प्रकट होगा प्रत्युत वाह्य किसी वस्तुसे धर्म होता है इस दृष्टि में वाह्य पर पदार्थ को विषय किया जिससे निमित्तदृष्टि के कारण विभाव ही बढ़ा वहां धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई। निमित्त दृष्टिमें धर्मका विकास संभव ही नहीं है। अखंड पूर्ण विशुद्ध ज्ञानस्वभाव मय निज आत्मा का अभेदस्वभाव से अनुभव किये बिना वाह्यका प्रसंग कैसे छूटे वाह्यसंग अनादि से रहने के कारण अभ्यस्त बन गया है। इसकी मुक्ति स्वभाव दृष्टि बिना नहीं होगी। इसलिये जो पदार्थ जैसे अपने अपने विशेष स्वभाव वाला है उसे वैसा ही श्रद्धान करो इससे भेद विज्ञान होगा भेद विज्ञानके अनंतर अहितका परिहार हितका उपाय होगा उससे धर्मका विकास होगा। जीव को धर्म ही शरण है विकल्पों की बहुलता से आत्मा के किसी हितकी सिद्धि नहीं जगतके समागम से किसी हितकी सिद्धि नहीं। हित स्वभाव दृष्टि में है क्योंकि इससे ही निराकुल परिणति का विकास होता है। आत्माका स्वभाव ज्ञान और आनंद मय है जगत के जीवोंकी इन दो की ही वाञ्छा है—ज्ञान और आनंद सो ये तो आत्मा के स्वभाव ही हैं परन्तु ऐसा न समझ पाया इसलिये परदृष्टि कर कर मलीन बनते हुए संसार में रुलना पड़ा है एकसौ साढ़े सित्यानवे करोड़ कुल वाले शरीरों में भ्रमा है। इन सबभवोमें एक मनुष्यभव आर्य कुल सर्वयोग्यता कठिन है सो भी कभी पाई तो आहारादि संज्ञावों की आसक्ति में काल खो दिया।

हे आत्मन् इस समय तुम जिस स्थिति में हो वह आगे कल्याण के लिये मार्ग बना लेने के लिये बड़ा उपयुक्त है। अतः सर्व ममत्व अज्ञान को छोड़कर अपने आपको एक अभेद स्वभाव से अनुभव करो यहां धर्म अपनी उत्पत्ति को अनुभवने लगेगा। यही भाव परमसुखमय होगा। यहां यह प्रथम अधिकार पूर्ण होने वाला है एवं द्वितीय ज्ञेयाधिकार

लगने वाला है इन दोनों अधिकारों का संबंध यह प्रसंग बना रहा है। ज्ञान के लिये ज्ञेयज्ञान की आवश्यकता है सो ज्ञानका निरूपण करने के बाद ज्ञेयतत्त्वका निरूपण आवश्यक हो गया है। यह गाथा ज्ञानाधिकार की उपान्त्य गाथा है इस गाथा के बाद अभेद स्वभावी धर्म की भावना करने के लिये एक गाथा कही जायगी जिस गाथा के विना ज्ञानाधिकार की समाप्ति उद्देश्यप्रदर्शन में कमी बता देने वाली होती।

अब अंतिम मंगल भावना से पहिले इस ज्ञानाधिकार में किस क्रम से क्या वर्णन किया गया यह अतिसंक्षेप से बताते हैं। सबसे पहिले नमस्कार विधिको करके प्रतिज्ञा बतलाई है जो प्रतिज्ञा की गई है– "उपसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाण संपत्ती" मैं समताभाव को प्राप्त होता हूं जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है। यहाँ दृढ़संकल्प ही प्रतिज्ञा है। समताभाव बिना निर्वाण का मार्ग नहीं है। रागद्वेष विभाव से दूर रहने के लिये जितने धर्म कार्य किये जाते हैं वे समताभाव के लिये हैं। यहां समता से परिपूर्ण अरहंत सिद्ध भगवान को नमस्कार किया गया है इससे समता का उद्देश्य करने वाले का है यही स्पष्ट रहना चाहिये। इसी समता भाव को पूर्ण पाने का यत्न आचार्य उपाध्याय साधु करते हैं उनका स्मरण भी समता भाव के उद्देश्य का द्योतक है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं करता इस श्रद्धावाले रागवश किसी ध्यान में आते हैं तो वीतराग आत्मा के ध्यान में। और इसी कारण उनका समता से अतिरिक्त अन्य उद्देश्य नहीं होता। इस प्रकार प्रथम समता का संकल्प किया फिर वह समता क्या वस्तु है इसका निर्णय किया क्योंकि जिसे पाता है और जिसकी दृष्टि बिना पाना होता नहीं उसे जाने बिना कोई सिद्धि नहीं है अतः समता परिणाम को धर्मरूप में निश्चय किया "चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो" चारित्र धर्म समता ये एकार्थक हैं। अपने ज्ञान स्वरूप में अवस्थित रहना चारित्र है धर्म है समता है। इस प्रकार समता परिणाम को धर्म निश्चित करके फिर यह निश्चय कि धर्म अर्थात् आत्मस्वभाव आत्मा से जुदा नहीं

है और धर्म भाव पर किया उपयोग भी उस काल में जुदा नहीं है अतः "परिणमदि जेण दव्वं तत्कालं तम्मयत्ति पिएणत्तं । तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो" इस विधिके अनुसार आत्मा के ही धर्मपना निश्चत किया है। परन्तु धर्मभाव की दृष्टि आ जाने पर भी कभी ऐसा होता है कि शुभोपयोग की परिणति भी हो जाती है तब यह शुभोपयोग वस्तुतः शिव मार्गका घातक ही है। क्योंकि शुभोपयोग भी अशुद्धोपयोग है तब अशुद्धोपयोग जैसे आत्मसिद्धि का विरोधी है वैसे ही शुभोपयोग भी आत्मसिद्धि का विरोधी है। अतः धर्मभावसे परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग कटि युक्त है तो निर्वाणसुख को प्राप्त करता है। इस प्रसंगको लेकर शुद्धोपयोग व शुद्धोपयोगसे परिणत आत्मा के स्वरूपका वर्णन किया और समस्त अशुद्धोपयोग व उसके फल पुण्य पाप व सुख दुःखको सबको समान निश्चत कर दूर कराया। तथा इंद्रियज ज्ञान सुखको हेय विस्तृत किया। पुनः शुद्धोपयोग के विशेष स्वरूप को बताकर उसके फल स्वरूप सहज जात ज्ञान और आनंद का उद्योतन करके अर्थात् अपने आप में प्रकट हुए सहज ज्ञान आनंद की तरंगो का स्पर्श करके आचार्य श्री कुंदकुंददेव ने ज्ञान और आनंद के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया इस तरह ज्ञानाधिकार में आचार्य देव ने अपने अविनाभावी सहजसुख को साथ लेकर ज्ञान के स्वरूपका स्पष्ट वर्णन किया। इस ही ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में सर्व हित निहित है अतः यह परमार्थ ज्ञानाधिकार हम सबको शिवस्वरूप होओ।

अब यह पूर्ण धारण करते हैं कि मैं ही साक्षात् धर्मस्वरूप हूँ धर्ममूर्ति हूँ। इसी को प्रक्रिया पूर्वक वर्णन करेंगे। संसारी जीव ने जो अब तक दुःख उठाया उसका मूलभाव केवल परस्पृहा है-पर की आशा वाञ्छा तृष्णा है। धन आहारादि भिन्न सत्तावाले अचेतन पदार्थ, पुत्र मित्रादि बंधनबद्ध चेतन पदार्थ और शरीर अचेतन पदार्थ ये तो प्रकट पर हैं इनमें व्यर्थ वाञ्छा का फल संसार परिभ्रमण है। इनसे हटकर अब निज आत्म प्रदेशोंमें देखो क्या क्या पर नाच रहा है ? मैं एक ध्रुव ज्ञान

स्वभावी द्रव्य हूँ जो अध्रुव है वह मैं नहीं रागादि परिणाम औपाधिक है और अध्रुव हैं अतः पर क्षायोपशमिक ज्ञानादि कर्म क्षयोपशमाधीन हैं अतः अध्रुव है वह भी पर है केवलज्ञान भी क्षणिक परिणति है अतः इन सबसे उपयोग हटाकर एक निज ध्रुव ज्ञानस्वभावी शुद्ध द्रव्य में उपयोग करना चाहिये। इस ही शुद्धोपयोगके प्रसाद से पर पदार्थ की निस्पृहता प्रकट होती है इस प्रकार अब किस किस ही प्रकार से अर्थात् बड़े पुरुषार्थ से जिस प्रकार बने उस ही उपलम्भ के यत्न से शुद्धोपयोग का अवलोकन किया जिसके प्रसाद से पर निस्पृहता की साधना हुई सो परनिःस्पृहता पाकर आत्मा में ही वृद्धिंगत व स्थित जो पारमेश्वरी प्रवृत्ति है ज्ञाता द्रष्टारूप स्थिति है उसे प्राप्त करता हुआ कृतकृत्यता को प्राप्त करके बिलकुल अनाकुल होता हुआ अपने में ही अभिन्न होने पर भी विकल्प जाल वश उठते हुए भेद उनकी वासना को नष्ट किया मेरे अब यही व्यपस्थित है जो धर्मस्वरूप है वह ही साक्षात् मैं हू। क्योंकि मैं धर्म अर्थात् स्वभाव से व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं हूं इस ही बात को ध्वनित करते हैं—

जो णिहदमोह दिट्ठी आगमकुसलो विराग चरियम्मि
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मोत्ति विसेसिदो समणो ॥९२॥

जिसने प्रथम शुद्ध आत्मा देवकी प्रतीति गुणकीभक्ति करके उनसे प्राप्त किये वचनों द्वारा वस्तुस्वरूपका निर्णय किया और सात तत्त्वों के श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यक्त्वके अभेद ग्राही उपयोगसे निजशुद्धात्माकी रुचिरूप निश्चयोन्मुखतया सम्यक्त्व परिणामसे परिणति पाई वह नियम से दर्शनमोह को विनष्ट करता है सो नष्ट कर दिया है दर्शनमोह को जिसने ऐसा अन्तरात्मा आगमकुशल होता है। वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत आगम का जिसे अभ्यास है और निज शुद्धात्मा की रुचि है वह उपाधिरहित सहज ज्ञानके स्वसंवेदन में कुशल ही है अतः वस्तुतः सम्यग्दृष्टि ही आगमकुशल हो पाता है ऐसा सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी

व्रत समिति आदि वहिरंग चारित्र में रहकर फिर निज शुद्ध आत्मा में निश्चल परिणति करता है सो इस प्रकार वीतराग चारित्र में भले प्रकार उद्यमी हुआ महात्मा स्वयं धर्म है ऐसा अधर्म रूप संसार को पार करने वालों ने दिखाया है।

अहो! यह आत्मा स्वयं धर्मरूप है। आहा!! यह तो मेरा मनोरथ ही अंतरंग भाव ही है। यह धर्म नया कहीं से पैदा नहीं करना है क्योंकि मेरा धर्म कहीं वाहर नहीं है। वह यहीं अन्तर में है किन्तु उसका घात करने वाली यदि कुछ है तो वह वाह्य पदार्थ में मोह करने की दृष्टि मात्र ही है। सो वह कुदृष्टि आत्मज्ञान द्वारा दूर हुई नष्ट हुई। यह आत्मज्ञान पूर्ण आस्तिक्य से भरा हुआ है क्योंकि जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत आगमके विधिपूर्वक अभ्याससे इस आत्मज्ञान की पुष्टि भी हुई है इस तरह आत्मज्ञान द्वारा यह मोह दृष्टि नष्ट हुई और अब आगे यह कुदृष्टि कभी भी नहीं हो सकेगी। कोई सा भी वाह्य अर्थ मुझमें त्रिकाल भी प्रवेश नहीं पासकता वस्तु की स्वतः ही ऐसी व्यवस्था है तब मोह एक कल्पना मात्र ही है। पर वस्तु कोई भी अपनी नहीं हो सकती तब व्यर्थ के ही कुभावसे स्वभावरूप महाधन दवा हुआ है ओ आत्मन् पवित्रज्ञानानंदमय होकर भी मूढता कर रहा है नरजन्म खो रहा है। अपने धर्मभावको पहिचान। यह धर्म-ज्ञानस्वभाव अनादि से तुझमें ही प्रकाशमान है इस पर दृष्टि देते ही सारा मोह अज्ञान भाग जाता है। अहो यह मैं आत्मा स्वयं धर्मरूप हूं सो अब मैं इसके उपयोग द्वारा जीवन पाता हुआ स्वयं धर्मरूप होकर समस्त विघ्न वाधावों से रहित सदा ही ऐसे धर्मभावमय-ज्ञाताद्रष्टारूप निष्कंप ठहरा रहूँ। ज्यादह विस्तार से क्या ? करने से ही काम सरेगा अतः अतः दृढ़ता से ज्ञाता दृष्टा की स्थितिस्वरूप धर्ममय रहूं।

यह धर्मका पुण्य दर्शन जैनेन्द्र परमागम की सेवा से हुआ है सो इस जैनेन्द्र-भागवत-परमागम-शब्दब्रह्म मेरा नमस्कार हो भक्तिभाव सहित मेरा सर्व समर्पण हो और आगमसेवामूलक हुए आत्मतत्त्वोपलम्भ

के लिये स्वस्ति हो जिसके प्रसाद से अनादि काल से बद्ध मोहभाव जो मेरे सर्व संकटों का मूल था वह शीघ्र नष्ट होगया मोहभाव के विनाश होने पर सहज जात निरुपधिशुद्धात्म संवेदन से अतिरिक्त कोई वैभव नहीं है, अन्य सब क्लेश ही क्लेश हैं यह द्रव्य धन्य है वह प्रदेश धन्य है वह परिणति धन्य है वह भाव धन्य है जहां मोहका अभाव हुआ। पर पदार्थों में सम्बन्ध मानने कुछ परिणति करने की बुद्धि से ही बड़े संकट हुए मेरे ही मात्र भ्रम से मैंने विपदावों का पहाड़ ढोया।

सुखका यह उपाय तो बड़ा सरल है स्वतन्त्र है सत्य है इसके पता विना ही सारी भ्रमणा हुई। अब पता पाया सर्व पदार्थ भिन्न हैं कोई किसी की परिणति नहीं करता मैं मिथ्यात्ववश पहिले परका करने वाला हूं इस मान्यता मात्र को ही करता रहा परका तो मैं कुछ कर भी न सकता था। मैं पर में कुछ कर ही नहीं रहा न कर सकूंगा और न मेरे परमें करने को ही कुछ है। मैंने धर्मभाव के दर्शन किया। इसकी दृढभावना के प्रसाद से शुद्धोपयोग उदय हुआ। अहो अहा यह तो शुद्धोपयोग स्वयं वीतराग चारित्रात्मक है मैं तो बड़ा ही सुलझा हुआ निकला। अन्य कोई खटपट ही दूर करने को नहीं है। मेरा ज्ञान स्वभाव स्वयं रागादिके परिहार स्वभाव को लिये हुए है इस ही ज्ञान स्वभाव को दृढता से उपयोग में स्थिर करे रहना ही काम रह गया है यही स्थिति वीतराग चारित्र की है। इस वीतरागचारित्रात्मक शुद्धोपयोग के लिये स्वस्ति हो जिसके प्रसाद से यह मैं आत्मा स्वयं धर्म स्वरूप हो गया।

इस प्रकार प्रथम साधारण परिचय द्वारा ही देव शास्त्र गुरुका परिचय पाकर इनकी आराधना से वस्तु के स्वरूप को समझे, उसको विशेप जानने के लिये आगमका अभ्यास करे। आगमाभ्यासके फल में निरुपधि अनादि अनंत ज्ञायकस्वभावकी अराधना करे जिसके फल स्वरूप स्वतः रागादि के उपयोग की परिणति दूर होकर विशुद्ध चैतन्य स्वभाव का उपयोग होगा, उससे विशुद्ध चैतन्य का अनुभवन होगा।

चैतन्यानुभव के द्वारा सम्यग्दर्शन के परिणाम को पाता हुआ अन्तरात्म दर्शन मोह का अभाव कर देता है जिससे धर्मभावका साक्षात् मिलन होता रहता है इस तरह शुद्धोपयोग को प्राप्त करके यह आत्मा स्वयं धर्म रूप होता है। सो इस उपयोग को ज्ञेयस्वरूप ज्ञानतत्त्वमें विलीन करके आत्मा सहज शोभायमान सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता स्वरूप महालक्ष्मी को प्राप्त करेगा ही। मुक्त अवस्था में निरुपराग शुद्धात्मा के अनुभवरूप धर्मकी यह पूर्ण स्थिति सदृश परिणममान होते हुए भी सतत बनी रहेगी। सर्वोच्च आनंद व ज्ञान तथा साथ ही पर द्रव्य से अत्यन्त निर्लेप अवस्थान यहां ही है। मुमुक्षुवों के मोक्षमार्गका अन्त यहां ही है अर्थात् उस स्वमार्गसे चलते चलते अन्त में जिस मंजल पर पहुँचता है जिसके बाद पूर्ण कृतकृत्यता है कुछ भी करने को नहीं रहा, वह परिणमन यहां ही है। हे शुद्ध चैतन्य देव! जयवंत होओ। हे निज शुद्ध चैतन्य देव! इस ही शुद्ध परिणमन से परिणमकर स्वभाव व पर्याय में अनुरूपता करो।

(इति ज्ञानाधिकारः समाप्तः)

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज द्वारा

जयपुर नगर में सन् ५३ के वर्षायोग में किया हुआ प्रवचनसार का यह प्रवचन समाप्त हुआ"।

आत्मकीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज द्वारा विरचित

—:०:—

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ।।टेक।।

१

मैं वह हूं जो हैं भगवान । जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।।
अन्तर यही ऊपरी जान । वे विराग यहँ रागवितान ।।

२

मम स्वरूप है सिद्ध समान । अमितशक्तिसुखज्ञाननिधान ।।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान । बना भिकारी निपट अजान ।।

३

सुख-दुख दाता कोई न आन । मोह राग रुप दुखकी खान ।।
निजको निज परको पर जान । फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।

४

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम । विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।।
राग त्यागि पहुंचू निजधाम । आकुलता का फिर क्या काम ।।

५

होता स्वयं जगत परिणाम । मैं जगका करता क्या काम ।।
दूर हटो परकृत परिणाम । 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।।

श्री सहजानन्दशास्त्रमाला के प्रकाश सर्वसाहित्यों के मिलने के पते

—:o:❀:o:—

१ मैनेजर दि० जैन पुस्तकालय सूरत
सूरत

२ पं० मोहनलाल जी जैन शास्त्री
पुरानी चरहाई जबलपुर

३ मालिक वीर पुस्तकालय
श्री महावीर जी (जयपुर)

४ व्यवस्थापक श्री सहजानन्दशास्त्रमाला
जवाहरगंज जबलपुर

५ मंत्री श्री सहजानन्दशास्त्रमाला
२०१ पुलिस स्ट्रीट मेरठ सदर (उ० प्र०)

नोटः—पूरा एक सेट लेने पर =) प्रति रुपया कमीशन
विक्रेता व वितरक महानुभावों को विशेष कमीशन

रोशनलाल शर्मा के प्रबंध से मोहन प्रिन्टिङ्ग प्रेस, मेरठ में।